बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी(उ0प्र0)

से संगीत विषय में पी–एच0डी0 उपाधि हेतु

विस्तृत रूपरेखा

"ब्रह्मावर्त क्षेत्र की लोक कलाएँ एवं लोक संगीत वैशिष्ट्य - एक अध्ययन"

2005

शोध निर्देशिका
डॉ0(श्रीमती) वीना श्रीवास्तव
विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग,
डी0वी0 कालेज, उरई

शोधकर्त्री
श्रीमती आन्श्वना सक्सेना
एम0ए0(संगीत), नेट, प्रवक्ता संगीत(गायन)
किशोरी रमण डिग्री कालेज, मथुरा

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी (उ0प्र0)

से

संगीत विषय में पी–एच0डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

विस्तृत रूप-रेखा

“ब्रह्मावर्त क्षेत्र की लोककलाएँ एवम् लोक संगीत वैशिष्ट्य - एक अध्ययन”
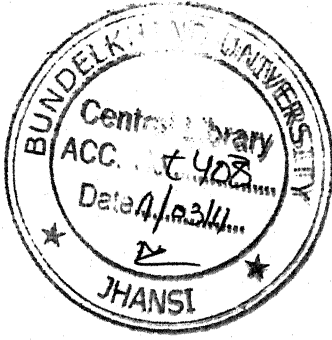
2005

शोध पर्यवेक्षिका :
डॉ0(श्रीमती) वीना श्रीवास्तव
विभागाध्यक्ष (संगीत विभाग)
डी0वी0 कालेज, उरई

शोधकर्त्री :
श्रीमती आन्श्वना सक्सेना
एम0ए0(संगीत), नेट प्रवक्ता, संगीत(गायन)
किशोरी रमण डिग्री कालेज, मथुरा

दो शब्द

भारतीय कला इतिहास की अजस्त्र धारा में ब्रह्मावर्त की एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक छवि है। यहाँ का अतीत जितना गौरवमय है, वर्तमान उतना ही भव्य। प्राचीन मान्यता के अनुसार यह क्षेत्र सृष्टि का केन्द्र बिन्दु होने के कारण अपने में अनेक गौरवशाली परम्पराओं और सांस्कृतिक धरोहर को अपने आँचल में संजोये हुए है। इस भूमि ने देश को कई महान सपूत दिये है जिन्होंनें अपने समय में देश को नेतृत्व प्रदान किया और देश का मान बढ़ाया। यहाँ की मिट्टी में वह गंध बसी है जो हमारी कलाओं की प्रेरणा और मार्ग प्रशस्त करती है। इसी उद्देश्य से मैंने अपना शोध विषय जो इस क्षेत्र के विशिष्ट संगीत एवं लोककलाओं पर है, शोध के लिए चुना क्योंकि आज के विदेशी संस्कृति को परोस रहे टी0वी0 चैनलों के प्रभाव के दुष्परिणाम स्वरूप यह कला भी तेजी से लुप्त होती जा रही है। यह कला अब आधुनिकता से दूर बहुत छोटे से अशिक्षित देहाती इलाकों में ही सिमट कर रह गयी है।

सर्वप्रथम मैं अपनी गुरू श्रद्धेया डॉ0(श्रीमती) वीना श्रीवास्तव, विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, डी0वी0 कालेज, उरई) द्वारा प्रदान किये गये संरक्षण, निर्देशन, सहयोग एवं वात्सल्य हेतु उनकी हृदय से आभारी हूँ। मैं श्रद्धा भाव से उनके प्रति ऋणी हूँ। यह मेरा सौभाग्य रहा है कि मुझे उनका आर्शीवाद एवं प्रोत्साहन मिला है। भविष्य में में भी उनका स्नेहाशीष मिलता रहेगा तो मैं स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करूँगी।

मेरे पूज्य श्वसुर श्री सतीश चन्द्र, पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, डी0जी0 कालेज, कानपुर एवं माता तुल्य सासजी श्रीमती सत्यलता का वात्सल्यपूर्ण मार्गदर्शन एवं स्नेहाशीष की छत्रछाया में मैं इस शोध कार्य को

प्रारम्भ करने का साहस जुटा सकी हूँ। पिताश्री श्री सुशील सक्सेना एवं माताश्री श्रीमती संतोष सक्सेना का जो दुलार, सहयोग और उत्साह मिला है। यह मेरा परम सौभाग्य कि पति के रूप में मुझे श्री मोहित कुमार जी जैसा जीवन साथी मिला जिन्होंनें पग–पग पर मेरा मार्ग दर्शन तो किया ही साथ ही साथ निरन्तर उत्साह वर्द्धन भी किया। इसी कड़ी में अपने सभी अन्य परिजनों का और स्नेहिल सम्बन्धियों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ। जिसका यह परिणाम सामने आया है।

अंत में मैं अपने सभी अन्य गुरूजनों, कलाप्रेमियों, कलाविज्ञों और कला विचारको के प्रति श्रद्धानत हूँ जिनसे मुझे यह कार्य करने की प्रेरणा मिली है और मै शोध प्रबन्ध के कार्य के लिए साहस जुटा पायी हूँ।

(श्रीमती आन्श्वना सक्सेना)

अनुक्रमणिका

शोध योजना

(विस्तृत रूपरेखा)

"ब्रह्मावर्त क्षेत्र की लोककलाएँ एवम् लोक संगीत वैशिष्ट्य - एक अध्ययन"

अध्याय प्रथम

विषय प्रवेश

1. लोक कलायें, अर्थ, विकास एवम् भौगोलिक व सांस्कृतिक परिवेश।

2. ब्रह्मावर्त क्षेत्र की लोक परम्परायें, मान्यतायें, आस्थायें व उनके विकास में लोक संगीत व लोक कलाओं का योगदान।

अध्याय द्वितीय

ब्रह्मावर्त की लोक कलाओं व लोक संगीत का विस्तृत सिंहावलोकन

1. लोक कलाओं का स्वरूप व साम्यता आदि।

2. लोक कलाओं की व लोक संगीत की परम्परायें, परिपाटी व स्वरूप आदि।

अध्याय तृतीय

लोक कलाओं की व लोक संगीत की प्रस्तुति व विवेचना

1. प्रस्तुति, प्रक्रिया व सर्वेक्षण आदि।

2. सामाग्री, स्वरूप, मान्यतायें व विशेषतायें आदि।

अध्याय चतुर्थ

उपादेयता व तुलनात्मक स्वरूप

1. उपादेयता, लोक मानस में व्याप्त भावनायें व विशिष्टतायें आदि।

2. पड़ौसी क्षेत्रों व राज्यों से तुलनात्मक महत्व आदि।

अध्याय पंचम

उपसंहार

1. लोक कलाओं की व लोक संगीत का सौष्ठव व आशायें।

2. लोक कलाओं की व लोक संगीत का भविष्य व उत्तरदायित्व आदि।

शोध का पूर्वज्ञान, महत्व व उपयोगिता

संगीत कला में परास्नातक तक की शिक्षा प्राप्त करते समय मुझे जो ग्रामीण वातावरण व उनकी धरोहर कला का दैनिक स्वरूप देखने को मिला उसके प्रति मैं आकर्षित भी हुई और मेरे ज्ञान में गुरूजनों ने वुद्धिभर मुझे उसके प्रति एक जागरूकता पैदा कर दी, जिसका यह परिणाम है।

लोक कला जनमानस की कला है। इसका आधार मानव की संस्कृति से जुड़ा है। लोक उत्सवों, लोक नाट्य, लोक गायन, लोक कला व अन्य लोक विधाएँ यह सब

अपने-अपने क्षेत्रों की अपनी-अपनी विशेषताएँ लिए हुए एक मौलिक चिन्तन होती हैं जो देश-काल की परिस्थितियों से जुड़ी रहती हैं। इससे हम सब जुड़े रहते हैं और समाज की पहचान बनती है। लोक विधाओं में लोक कल्याण की भावना निहित होती है। लोक कला परम्परागत रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमारे तीज-त्योहार, रीति-रिवाजों, धार्मिक अनुष्ठानों व संस्कारों से जुड़ी है।

कानपुर के उत्तर में गंगा नदी के किनारे बसे गाँव कानपुर-बिठूर (ब्रह्मावर्त) मार्ग में स्थित है। यहाँ पर करीब पैंतीस से चालीस गाँव तक हैं। प्रत्येक गाँव की आबादी दो सौ से एक हजार तक होगी। यहाँ आने-जाने के लिए कोई उपयुक्त पक्का मार्ग नहीं है। कच्चे रास्ते व पगडंडियों के सहारे यहाँ आया जा सकता है और किसी-किसी गाँव में तो नाव से सवार होकर जाना पड़ता है। कुछ गाँवों तक जाने का मार्ग अवश्य पक्का है। यहाँ पर मुख्य रूप से निषाद (मल्लाह) जातियों का निवास है वैसे अन्य जातियों में यादव, ब्राह्मण, पाल व चमार आदि के भी कुछ परिवारों का निवास है। यहाँ के निवासियों का मुख्य धन्धा खेती-बाड़ी, पशु-पालन है। यह लोग लम्बे समय से खेती-खलिहानों के बीच बसे गाँव में निवास करते हैं। एक गाँव में मुश्किल से बीस से सौ तक झोपड़ी व कच्चे-पक्के मकान बने हुए हैं। यह गाँव गंगा नदी के बीच-बीच बसे हुए हैं। इन लोगों का सम्पर्क जन्म से ही पेड़-पौधे, नदी-तालाब, वन्य, पशु-पक्षियों व प्रकृति से रहा है। इसी वजह से इनकी कला को भी प्रकृति ने प्रभावित किया है। यहाँ के निवासी विशेष रूप से तीज-त्योहारों, शादी-विवाह, रीति-रिवाजों, संस्कारों व धार्मिक अनुष्ठानों के अवसरों में अपने-अपने घरों को लीप-पोत कर चबूतरो, दालानों व आँगन को लोक अलंकरणों से अलंकृत करते हैं। यह अलंकरण कुछ समय ही रह पाता है, कारण है जगह का अभाव।

भारतीय संस्कृति के मूल में निहित है कलाओं की ऊर्ध्वगामी संचेतना, जो अविरल है, अनन्त है, शाश्वत-प्राणवान है। कलाओं की अवधारणा हमारी संस्कृति का मूल है और लोक कलाएँ हमारी आस्था का साक्ष्य हैं। कलाएँ, जिनके बिना भारतीयता की पहचान नहीं की जा सकती। मानवीय संवेदनाओं और जीवन-मूल्यों की माप "लोक-प्रतीति" में ही सम्भव है।

मानव-वृत्तियों की आदिम चेष्टाओं में ज्ञानोदय के साथ ही कला-उन्मेष के बीज विद्यमान थे, जो निरन्तर नित्य आस्था की धरती पर अंकुरित होते रहे। सभ्य विकास के कालखण्डों में भी आंचलिक "लोक-जीवन" की अभिप्रेरणा, राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना में रची बसी है।

ब्रह्मावर्त का स्मरण करते हुए, "लोक" पर विचार अपेक्षित है। "लोक" शब्द संस्कृत की "लोक" धातु में धञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में "जन" के लिए किया गया है। ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में लोक शब्द "जीव" तथा "स्थान" के लिए दोनों अर्थो में प्रयुक्त किया गया है-

"नाभ्यां आसीदंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पदभ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन।।"

उपनिषदों में अनेक स्थानों पर "लोक" शब्द व्यवहृत हुआ है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में अनेक नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "लोक" शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं है, वरन् नगरों और गाँव में फैली वह जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है।

वैदिक संस्कृति ने साहित्यिक अभिवृद्धि के लिए दो भाषाओं को जन्म दिया था- संस्कृत और लोक भाषा। भारतीय वाङ्मय के लिए जो कार्य संस्कृत ने किया, प्राकृत, अपभ्रंश आदि उससे कम नहीं रहीं, तभी उसमें इतनी अनुसन्धानात्मक चेतना जुड़ी है। वैदिक काल से हमारी धर्माभिमुख देश में संस्कृति की दो पृथक-पृथक धाराएँ प्रवाहित हैं-

(1) शिष्ट संस्कृति

(2) लोक संस्कृति

अभिजात्य वर्ग की सम्भ्रान्त शैली में, परिष्कृत शिष्ट संस्कृति है, जो वेद या शास्त्रों से प्रस्वित बौद्धिक विकास के उच्चतम शिखर पर है, लोकसंस्कृति का प्रेरणास्त्रोत, लोक या जनमानस है, जिसकी उत्सभूमि वह जनसंकुल है, जो बौद्धिक विकास की धारा से विलग, मन और आनन्द की सजलता से अभिमंत्रित है। हमारे वेद इस द्विआगामी संस्कृतियों की विशद मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। "अथर्ववेद लोक संस्कृति का परिचायक है, तो ऋग्वेद शिष्ट संस्कृति का, अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जनजीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जनजीवन।"

वाल्मीकि के आदि काव्य में सुग्रीव और जाम्बवन्त आदिम जातियों के अग्रणी प्रतिनिधि थे जो आज भी इस विशाल देश में लाखों की संख्या में हैं। हनुमान अशोक वाटिका में जब सीता से मिलने गये तब उन्होंने विचार किया कि यदि वे "शिष्टभाषा" का प्रयोग करते हैं, तो सीता उन्हें रावण समझकर डर जायेंगी। यह इस बात का प्रमाण है कि जनसाधारण उस युग में लोक भाषा का प्रयोग करते थे। लोक भाषा के साथ

लोक-कथा, लोकोक्ति, लोकचर्चा, लोकपूर्व, अनुष्ठान उत्सव आदि तथा लोक शिल्प या लोककला की महत्ता, समाज पर व्यापक रूप से दृष्टिपात है।

भारतीय संगीत कला के स्वरूप का एक पक्ष शास्त्रीय है जो राज्याश्रयी छत्रछाया में शुद्ध शास्त्रीय रूप में व्यंजित हुआ है, दूसरा लोकाविष्ट स्वरूप ऐतिहासिक ख्याति से विमुख, परिवार, धर्म और आस्था की मानसिकता से जुड़ा है। बौद्धिक चेतना से असंस्पर्शित यह, हमारे घर आँगन में अंकुरित कलात्मक सृजन के अनगढ़ आकारों में बद्ध अकल्पित अभ्युदय आकार, आश्रय, अवलम्बन, प्रोत्साहन, प्रलोभन तथा जाति-प्रजातियों की सीमा से परे, घर-परिवार के सरस, मधुर पलों में युगों से गतिमान हैं।

डॉ0 सुधांशु कुमार रे, लोक कला जातियों की सीमा से विलग आनन्द और हर्षोन्माद के धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में, ग्रहों में चित्र की प्रतिष्ठा को मंगलकारी बताया गया है-

कलानां प्रवरं चित्रम्, धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मांगल्यं प्रथमं ह्येतद्, गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।।

ये पंक्तियाँ तत्कालीन समाज की ऊँची भावना को अभिव्यक्ति करती हैं, जब कला-सृष्टि मनुष्य की दैनिक गतिविधि का अंग थी। चित्रों से प्रतिष्ठित मन्दिर और भवन, समृद्धि तथा मंगलकामना को प्रकट करते थे। जीवन धर्म और कलात्मक सौन्दर्य से अनुप्रमाणित था। भारतीय संस्कृति शुभत्व और मंगल भावना के स्वरों से मुखरित थी। चित्रकला जनमानस से समायी हुई थी और इसके बिना, शून्यता तथा उदासी थी।

लोककला धर्म-सम्बन्धी लोकनुभूति और धरती के प्रति अपरिसीम पूजा-भावना से सम्प्रेषित है। धरित्री के प्रति पावन उदात्त चिन्तन हमारी लोक संस्कृति का मूल तत्व रहा

है। श्रुतियों में, वेदों में, धरती के प्रति लोकजीवन की उत्कृष्ट आस्था, युगों से प्रमाणित है। दर्शन के क्षेत्र में भी भूमित्व की महत्ता स्वीकारी गयी है और विज्ञान तो उसके गर्भ में प्रवेश कर नित नवीन अनुसन्धानों में रत है।

हमारी इस परम्परा की लोकाभिरूचियों को जीवित रखने के लिए विभिन्न प्रदेशों में जो कार्य हुए हैं, वह अतुलनीय हैं। अनाम कलाकारों ने, जिनमें नारियों का प्रामुख्य है, धरती और माटी के प्रति अपनी पावन निष्ठा को एक अजस्त्र रसधार से संचित कर ऐसी कलाकृतियों को प्राणवान किया है, जो राष्ट्र की चेतना को आह्लादित कर सकी हैं। अथर्ववेद में भूमि को माता तथा मानव को उसका पुत्र कहा गया है-

"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।"

सिन्धु घाटी में तथा भारत के ताम्रश्मयुगीन अन्य स्थानों से भी पकी मिट्टी की बहुसंख्यक "मातृदेवी" प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनकी पूजा होती थी। ये प्रतिमाएँ अथर्ववेद के उक्त सूत्र को चरितार्थ करतीं हैं।

भारतीय कला इतिहास की अजस्त्र धारा में ब्रह्मावर्त की एक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक छवि है। यहाँ का अतीत जितना गौरवमय है, वर्तमान भी उतना ही भव्य। आर्यो के प्रथम पुरूषों ने यहीं आकर निवास किया था। कानपुर से **26** किलोमीटर उत्तर की ओर जहाँ पश्चिम से तमसा (नोन नदी) आकर पावन गंगा से मिलती है, पुण्यसलिला भागीरथी के तट पर अवस्थित है ब्रह्मावर्त। आर्यश्रेष्ठ "स्वयंभू" को भागीरथी-तमसा संगम रूचा, यहीं समाधिस्थ हो उन्होंने ब्रह्म् का साक्षात्कार किया। "उत्पलारण्य से जनश्रुत इस भूमि को उन्होंने "ब्रह्मावर्त" की संज्ञा दी।

आस्था और संकल्प की धारित्री ब्रह्मावर्त, आर्यो की पुण्यभूमि है। इसका एक नाम बिठूर भी है। जनश्रुति के आधार पर तीन संदर्भ मिलते हैं।

(1) भक्त ध्रुव के समय, बर्हिमती नाम, कालान्तर में बिठूर हो गया।

(2) बे-ठौर, ध्रुव के बाद किसी शासक का स्थायित्व न होने से कहा गया, वहीं "बिठूर" हुआ।

(3) बाजीराव पेशवा ने यहाँ भगवान बिठोबा की मूर्ति लगाकर स्थापित की थी और इस प्रान्त को नाम दिया "बिठोवानगर" इसी से बिठूर नामकरण हुआ।

"ब्रह्मावर्त" का नाम "रामायण" का मुखापेक्षी है। राम की जीवन गाथा के अनेक प्रसंग ब्रह्मावर्त या बिठूर से जुड़े हैं, जो यहाँ के लोकगीतों में ध्वनित हैं। इस धरती पर भौतिक सुखों के प्राप्य की दुश्चेष्टा में रत, वाल्मीकि का दस्यु मन, करूणापूरित संवेदना की आस्था और विश्वास से रचना धर्म सन्त बन गया। महर्षि के भावोन्मेष में, सीता के निर्वासन की कथा कहता है ब्रह्मावर्त। दर्प की क्रूरता के मध्य बालक ध्रुव को ईश प्रेम का संस्कार इस पावन माटी की देन है। सीता के मातृत्व की गरिमा से प्लावित इस भूमि पर पराधीन राष्ट्र को मुक्त कराने का संकल्प लिए पली बढ़ी है वीरांगना लक्ष्मीबाई। दर्प और संकल्प, हिंसा और साधुता, निर्वासन और प्रतिस्थापन, पराधीनता और मुक्ति की प्रत्यक्षदर्शी चेतना लिए भागीरथी की पावन धारा से सिंचित इस धरती ने सृष्टि के रचनाकार ब्रह्मा द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ से 'ब्रह्मावर्त' नाम धारण किया।

सीता के निर्वासन को ध्रुव की आस्था और संकल्प की, क्रौंच वध में आदिकाव्य की सृष्टि कहानी यहाँ अंकित है। और अंकित है, हमारे लोक संस्कारित अटूट विश्वास और एकता का साक्षी, स्वर्णिम काल-खण्डों से गौरवान्वित, नगरीय जागरूकता से विलग,

इस धरती के उन्मुक्त ग्राम्य मन का सौन्दर्य-बोध। सहज सामान्यरूपा, शिल्प एवं रेखाकनों के चमत्कृत आकर्षण की उर्जा विश्व की प्रगतिशील भाव-धारा के साथ जुड़ गयी है।

गोरखपुर के मृत्तिका हस्ति, अश्व आदि विश्व की सौन्दर्यपरकता पर खरे हैं, तो ब्रह्मावर्त (उत्तर प्रदेश) के मृत्तिक घट और लिखनों (चित्र) को भी विश्वास की सौन्दर्य परक दृष्टि, ढूँढ़ लायी है। लोक के कलात्मक भावनापरक सृजन-बिम्बों में ब्रह्मावर्त एक सीमित अंचल नहीं है, वह भारत को सर्वागीण स्वरूप का दर्शन, भारतीय मिट्टी की पहचान और विविधता में राष्ट्रीय एकता का स्वर है।

भूमि और भित्तियों के आलेखनों पर यहाँ नारियों का वर्चस्व है, तो मिट्टी को पात्रक रूप देते कलाकारों की तकनीकी सर्जना चाक्षुष अंकन के नित्य नवीन बिम्ब आयामों को प्रत्यक्ष कर रही है। मन को छू लेने वाले ये लोक बिम्ब सम्पूर्ण देश की धरती से जुड़े हैं, चाहे वे मधुबनी की सुरंगी सर्जनाएँ हो, राजस्थान के माँडने या सुरम्य अनूठे पात्र, मोलेला की टाइल्स हों, दक्षिण और गुजरात की रंगोली, तथा टेराकोटा, बंगाल की अल्पना और बाँकुरा के अश्व हों या बस्तर और रायपुर (मध्यप्रदेश) के आदिवासियों की जनजातीय संस्कृति के विलक्षण रूपाकार हों, सभी में भारतीय धरती का जुड़ाव है, जो किसी व्यवस्था के मुखापेक्षी नहीं, भावनात्मक सृजन और आनन्द के पलों की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना हैं।

ब्रह्मावर्त की लोककला का आकार-विस्तार असीमित है। मिट्टी की गढ़न और रंग-आलेखनों के परम्परा युगों की अजस्त्र धारा में प्रवाहित है। यहाँ के कुम्भकार कलाकारों की मौलिकता दर्शनीय है। पात्रक निर्मित और पावन भागीरथी के तट प्रान्तर की पूजित भावगम्यता का परिवेश, पूरी निष्ठा से मृत्तिका आकारों में जीवन्त होता आ

रहा है, जिनमें दूरदर्शी, बुद्धि प्रदाता विनायक, ज्योतिर्मय रूद्र और मातृदेवियों की भव्यमूर्तता के साथ कौतुकी कपिसेना और शिव मन्दिरों के लघु आकार दर्शनीय हैं।

संस्कारित आलेखनों के बिम्ब हैं देवी-अवतार, पशु-पक्षी, पुष्प-वृक्ष, बिन्दुओ पर आधृत रचनाएँ एवं संकेतात्मक ज्यामितीय आकार, पूजित धरती पर सूखे आटे, चौरीठे और ऐपन से अंकित होते नयनाभिराम अलंकरण। मनुष्य जीवन के विभिन्न संस्कारों, जन्म और विवाह के विशिष्ट अवसरों पर, अनुष्ठानों, उत्सवों, पर्वो में, अनिवार्य रूप से भूमि और भित्ति पर रंजित किये जाते हैं लोक मंगल और कल्याण कामना के ये बिम्ब। संसृति से ग्रहित, नैसर्गिक उत्पादन सहज ही चाक्षुष सुरूचि में समाहित होते गये हैं। गंगा-यमुना, सूर्य-चन्द्र, ऑवला, वटवृक्ष, तुलसी, अश्व-हस्ति-सिंह, सर्प-वृश्चिक तथा अकल्पनीय आकारों की सर्जना स्वतः अदभुत है। बिन्दुओं पर आधारित रेखांकनों को ज्यामितीय सौन्दर्य सृष्टि में तांत्रिक चक्रों-सी प्रतीति और सम्मोहन है।

यहाँ ई.बी. हैवेल का निष्कर्ष उल्लेखनीय है- "हिन्दुओं का सूक्ष्म आकारात्मक चित्रण योरोपीय धनवाद जैसा है।"

सर जॉन वुडरफ ने अपनी पुस्तक में "तन्त्र" शब्द की व्याख्या की है "विधि" या "नियम" से। सम्मोहन तन्त्र (आठवाँ अध्याय) में दिया है कि प्रकृति के अभाव में संसार व्यर्थ है। प्रकृति (शक्ति) और पुरूष (शिव) के बिना सत्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

"तन्त्र" देवत्व का प्रतिनिधित्व करता है। तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थ "आगम" हैं, जो अगम्य हो, सरलता से समझा न जा सके और अन्तर को चमत्कृत करे। ब्रह्मावर्त की लोक कला में एक ओर प्रागैतिहासिक युग की सहज सुगन्ध है तो दूसरी ओर तांत्रिक चक्रों सी ज्यामितीय असहजता भी है, जो बिन्दु आकारों में द्रष्टव्य है।

आज की आस्था और विश्वास की सहजता में ही, इस कला का भविष्य सुरक्षित हो पायेगा। विगत कई सौ वर्षो के विदेशी शासन और सत्ता के पंजे में हमारी संस्कृति और लोक कला प्रायः उपेक्षित रही है किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् विभिन्न प्रदेशों में इसकी प्रतिष्ठा के प्रयास सक्रिय हैं। गत कुछ बर्षो में, विद्वानों ने लोक रचना के महत्व को समझा है, साथ ही अपेक्षा भी की है इन आलेखित आकारों के विस्तृत शोध और अध्ययन की, जिनमें माधुर्य, वैचित्रय के ये प्रतिरूप समय और पीढ़ियों के अन्तराल में विलुप्त न हो जाएँ। आज आवश्यकता है, नगरीय शिष्ट संस्कृति के चतुर्दिक विकास में ब्रह्मावर्त जैसे आंचलिक क्षेत्रीय प्रान्तरों के लोक-संस्कारों की प्राञ्जलता को अक्षुण्ण रखने की।

भारतीय चिन्तन में संस्कृति के पर्याय के रूप में आचार-विचार शब्द प्रचलित रहा। संस्कृति शब्द कल्चर का अनुवाद है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में इसका कहीं भी प्रयोग नहीं मिलता है इस प्रकार लोक-संस्कृति का मूलार्थ होगा- लोकाचार अर्थात लोक में प्रचलित आचार-विचार। यहाँ लोक ग्रामीण अथवा संस्कृति अर्थ में न होकर अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। लोक यहाँ जन समस्त का संकेत है जहाँ तक मानव समाज का प्रसार है वहाँ तक लोक की व्याप्ति है। इसी लोक की आचार-विचार सम्बन्धी क्रियाएँ जिस समूह चेतना में स्पन्दित होती हैं उसे लोक-संस्कृति कहा जायेगा। इस रूप में यह वेद से भी आगे का प्रस्थान है। प्रस्थान से भी आगे बढ़कर बीच भाव है। कहने का तात्पर्य है लोक मूल है वेद का न कि वेद मूल है लोक का। लोक संस्कृति समग्र बोध की संज्ञा है जिसे हम चैतन्य कहते हैं जो समग्रोपयोगी भजनीय एवं स्वीकार्य बने रहने के लिए इसका देश काल एवं अवसर के अनुसार स्वरूप संस्कार भी होता रहता है। इस रूप में लोक संस्कृति मानव का वह आयाम है जिससे टकराये बिना उसकी यात्रा (जन्म से मृत्यु

पर्यन्त) हो ही नहीं पाती। इसकी व्याप्ति के संदर्भ में जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में कहा गया है--

बहु व्याहितो या अयं बहुशो लोकः।
कः एतद अस्य पुनरीहतो अयात्।।**3.28**।।

'यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु में यह प्रभुत है।।

लोक-संस्कृति की वह सकल्पना समग्र नहीं है जिसमें कहा गया है- 'भारतीय लोक संस्कृति की आत्मा साधारण जनता है। जो नगरों से दूर गाँवों वन पर्वतों में निवास करती है।"

यह लोक संस्कृति का एक प्रस्थान बिन्दु तो हो सकता है किन्तु समग्र भारतीय लोक संस्कृति का प्रतिनिधि नहीं है। कारण कि लोक-संस्कृति के अपने स्थानीय रंग(गुण/प्रभाव) होते हैं। ये छोटे-छोटे स्थानीय प्रभाव (रूप) समग्रता में जिन मूल्यों की स्थापना करते हैं उसे भारतीय लोक संस्कृति की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। यहाँ वह ग्राम और नगर की सीमाओं से ऊपर उठकर समग्रानुभूति कराती है। यही समग्रानुभूति लोक संस्कृति है। लोक संस्कृति में बहुत से ऐसे मूल्य हैं जो ग्रामवासियों एवं नगरवासियों द्वारा मान्य हैं। यह मानना ही दोनों को लोक की परिधि में आवृत्त कर लेना है। भारतीय जनजीवन को देने के लिए अथवा उसे उर्जा स्वतः बढ़ाये रखने के लिए लोक संस्कृति के पास बहुत कुछ है। इस रूप में उसका एक महत्वपूर्ण प्रदेय है-आत्मीयता। आज इसका स्त्रोत सूख-सा चुका है।

लोक संस्कृति बनाम लोकेत्तर संस्कृति हमारे चिन्तन में लोक और वेद(लोकेत्तर) के अनेक संदर्भ मिलते हैं। कहीं इन्हें परस्पर विरोधी और कहीं इन्हें पूरक रूप में

व्यावहारित किया गया है महामहोपाध्याय पं0 गोपीनाथ कविराज ने इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है- 'लोक संस्कृति और लोकेत्तर संस्कृति में इतना ही अन्तर है जितना श्रद्धा और तर्क सहज और सजावट में होता है।' लोक संस्कृति प्रकृति की गोद में पलती और पनपती है, लोकेत्तर संस्कृति आग उगलती हुई चिमनियों, हुंकार करती मशीनों और विद्युत बल्बों में प्रदीप्त नगरों में निवास करती है। लोक संस्कृति के उपासक या संरक्षक बाहर की पुस्तकें न पढ़कर अन्दर की पुस्तकें पढ़ते हैं। उनके हृदय सरोवर में श्रद्धा के सुमन सदैव फूलते रहते हैं, लोकेत्तर संस्कृति के उपासकों संरक्षको में धन, पद, शिक्षा का स्वाभिमान रहता है उनके हृदय में तर्क की चिनगारियाँ सुलगती हैं लोक संस्कृति- शिक्षा प्रणाली में श्रद्धा-भक्ति की प्राथमिकता रहती है। उसमें अविश्वास, तर्क का कोई त्याग नहीं रहता। इसी से ज्ञान और सिद्धि की सहज प्राप्ति होती है। 'श्रद्धावान लभते ज्ञान तत्परः सयतेन्द्रिय' यहा सिद्धान्त लोक संस्कृति के उन्नायक भगवान कृष्ण के मुख से उच्चरित हुआ है। लोक संस्कृति में श्रद्धा भावना की परम्परा शाश्वत है। वह अंतः सलिला सरस्वती की भाँति जनजीवन मं सतत् प्रवाहित हुआ करती है। वस्तुतः लोक संस्कृति तथा लोकेत्तर संस्कृति तथा विश्व की सभी संस्कृतियों बीज एक ही है। स्थान, काल, वातावरण की भिन्नता से ही वह विभिन्न रूप धारण करता है। जैसे-जल वास्तव में एक ही है, किन्तु उसके बूँद नीम के वृक्ष में पड़कर कड़वाहट पैदा करती हैं और आम के वृक्ष में पड़कर वही रसाल बन जाते हैं। यह बीज लोक संस्कृति ही है जो भारतीय संस्कृति और भारत देश को जीवन्त बनाये हुए हैं, इसलिए कि इस में जीवन है, प्राणद स्पर्श और समन्वय के अनन्त श्रोत हैं। अतएव इस यर्थाथ संस्कृति का संरक्षण, संर्वधन करना हमारा सांस्कृतिक कर्तव्य है। कुल मिलाकर लोक संस्कृति आत्मपक्ष है और लोकेत्तर संस्कृति उसका रूप पक्ष।

लोक संस्कृति बनाम लोक संस्कार- लोक संस्कार लोक संस्कृति की वे ऊर्ध्व शिरायें हैं जिनके प्रवाहित होने वाले रक्त से उसे चेतना प्राप्त होती है। दूसरे रूप में ये संस्कार लोक संस्कृति के नियामक तत्व भी हैं। लोक संस्कृति और लोक संस्कार के अन्तस्तम्भों की चर्चा के पूर्व शब्द की अर्थ व्याप्ति और उसके स्वरूप पर प्रकाश डालना आवश्यक होगा।

आक्सफोर्ड डिक्सनरी में संस्कार के लिए तीन शब्दों Ceremony; Rite and Sacrament का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार संस्कृत के वाचस्पतय वृहदाभिधान भाग-5 पृष्ठ 5177 पर इसका "अर्थ विधिवत् शुद्धि किया" दिया गया है। कालिदास ने भी कुमारसंभव (1/28) में "शुद्धि" अर्थ में (संस्कार-वत्येव गिरा मनीषी तथा स पूतश्य विभूषितश्च) रघुवंश (3/35) में 'प्रशिक्षण' के अर्थ (विसर्ग संस्कार विनीत इत्यसी नृपेण चक्रे यवराज शब्दभाक्) रघुवंश के ही (3/18) में 'संस्करण'/परिष्करण के अर्थ में (प्रयुक्त संस्कार इवाधिक वभौ) एवं इसी के 1/20 में अभिषेक/विचार/धारणा/ कार्य का परिणाम/ क्रिया की विशेषता अर्थ में (फ्लानुमेयाः प्रारम्भाः संस्कारः (वाक्ताइव) अभिज्ञान-शाकुन्तलम (7/33) में "शोभा"/ आभूषण के अर्थ (स्वभाव सुन्दरम वस्तु न संस्कार मपेक्षते) मनुस्मृति (2/26) में शुद्ध क्रिया/धार्मिक विधि/ विधान अर्थ में (कार्य शरीरा संस्कारः पावनः प्रत्यैचेहच) हितोपदेशः (1/18) में प्रभाव/ स्वरूप/ स्वभाव/क्रिया एवं छाप के अर्थ में (यन्नेव भाजने लग्न संस्कारौ नान्यथा भवेत) प्रयुक्त है। संस्कार शब्द के उपर्युक्त अर्थ प्रयोग अन्ततः एक ही केन्द्रीय अर्थ परिष्कार/ परिमार्जन के अभिव्यंजन है। इस प्रकार संस्कार शब्द स्पष्टार्थ वह मांगलिक अनुष्ठान है जो आर्यजनों द्वारा विधिवत् सम्पादित एवं लोक में प्रचारित हैं। इन संस्कारों का सबसे बड़ा लाभ है कि इनमें संस्कारित व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है जिससे वह अपने सामाजिक जीवन में पूर्णता को प्राप्त करता है। उसका अभ्यन्तर परिशुद्ध हो उठता

है। इस कथन की पुष्टि सभी संस्कारों के विधि-विधान से हो जाती है। जो व्यक्ति के विकास के निमित्त किये जाते हैं जैसा कि शबर ने संस्कार की व्याख्या करते हुए लिखे हैं "संस्कारों नाम सभवति यस्मिज्जनतै पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्यः अर्थात संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है।" तंत्रवार्तिककार के अनुसार- योग्यता चादधाना क्रियाः संस्कारापत्युच्यते अर्थात संस्कार वे क्रियायें तथा रीतियाँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। इन संस्कारों के अधिकतम चालीस और न्यूनतम सोलह प्रकार बताये गये हैं। इन संदर्भो में गौतम अंगिरा और व्यास का उल्लेख मिलता है। गौतम ने चालीस, अंगिरा ने पच्चीस और व्यास ने सोलह संस्कारों का उल्लेख किया है यहाँ केवल उन्हीं संस्कारों का उल्लेख किया जा रहा है जो अवधी बुन्देली एवं अन्य बोलियों में प्रचलित हैं।

जन्म संस्कार- वैदिक विधान जो मन्त्रों का शिवात्मक स्वरूप एवं महत्व है वही सामाजिक आचरण एवं परम्परा में लोकगीतों का भी है। इसी भावना से अभिभूत होकर समाज परम्पराओं का आदर करता है। उसे अपने लिए अनिवार्य एवं वरेण्य मानकर अंगीकार करता है। इसी श्रृंखला में जन्म संस्कार के अन्तर्गत सोहर का विधान है। "सोहर" शब्द का एक संस्कार गीत के अर्थ में कई उपभाषा क्षेत्रों में प्रयोग होता है।

कहँवा से मइया आयू, त कहँवाँहि जाब्यू हो-
मइया कौन गाँव परिउ भुलाइ, कौने घर मंगल।
पुरबहिं से हम आयन, पछुवाँ क जाबै,
अमुक(गाँव का नाम) पुर परयों भुलाई,
अमुक घराँ (घर के लोगों के नाम) मंगल।
जौ मैं जनत्यों भवानी मइया, यही रहियाँ अइहैं।
मैया रहिया म बगिया लगवत्यों, जुड़ेहि जूड़े अवतीं।

जौ मैं जनत्यों शीतला मइया, यही रहियाँ अइहैं,

मइया रहिया म सगरा खोदवत्यों, डभैया मारत अवतीं।

जो मैं जनत्यों काली मइया, यही रहियाँ अइहैं,

मइया रहिया म अहिरा बसवत्यों, दहेंड़िया चढ़वत्यों।

मइया रहिया म डरत्यों हिंडोलवा, झूलि झूलि अवतिउ।

मइया रहिया म मलिया बसवत्यों, पियाला लै चढ़वत्यों।

मइया रहिया म कोंहरा बसवत्यों, पियाला लै चढ़वत्यों।

मइया रहिया म बनिया बसवत्यों, धारि, लवँग लै चढ़वत्यों।

अन्नप्राशन- अन्न का कोशीय अर्थ-भोजन/ भात/ कच्चा धान्य, चना, जौ आदि है और प्राशन का- खाना इस प्रकार अन्न प्राशन का अर्थ हुआ- भोजन करना। सोलह संस्कारों में यह भी विशेष संस्कार है। इसमें नवजात शिशु को प्रथम बार अन्न खिलाने की क्रिया का विधिवत शुभारम्भ किया जाता है। जिसे पसन/पासनी एवं चटावन भी कहते हैं। यह संस्कार शिशु जन्म के छठवें महीने में सम्पन्न किया जाता है। यह समय मनुस्मृति के श्लोक **2/34** से समर्थित है।

चतुर्थ मास कर्तव्यं शिशोनिष्क्रमण गृहात।

षष्ठेन्नं प्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलंकुले। ।

मनुस्मृति के अनुसार कुल कल्याण के लिए इस संस्कार को करना चाहिए। अन्नप्राशन के दिन बालक को यथाशाक्य आभूषणों से सुसज्जित किया जाता है। इससे मुख्य भूमिका लड़के के मामा की होती है।

कर्णवेधः- इसे कनछेदन के नाम से अभिहित किया जाता है। इस संस्कार का आरोग्य की दृष्टि से महत्व है। इसका रहस्य अतिवैज्ञानिक है। यह संस्कार इसलिए

सम्पन्न किया जाता था कि स्वांस, दमा आदि बीमारियों की आशंका इससे समाप्त हो जाती थी पर आज के फैशन के युग में लोग इसे भुला चुके हैं। सुश्रुत का कथन है कि रोग आदि से रक्षा तथा भूषण या अलंकार के निमित्त बालक के कानों का छेदन करना चाहिए। अंडकोश वृद्धि तथा अंत्र-वृद्धि के निरोध के लिए ये पुनः कर्णवेध का विधान करते हैं। उदाहरण है-

शंखोपरि च कर्णान्ते त्यकत्वा यत्नेन सेवानीयम्।
व्यात्यासद्वा शिरा विध्येदन्त्र वृद्धि निवृत्तये।।

चिकित्सा संस्थान **19/21** (डॉ0 राजबली पाण्डेय 'हिन्दू संस्कार' पृ0 **129** पर उदघृत)

मुण्डन- सिर के बाल प्रथम बार मूडने के संस्कार को मुण्डन चूड़ा कर्म या क्षौर कर्म संस्कार के नाम से अभिहित किया जाता है। इस संस्कार के समय गाये जाने वाले मुण्डन गीत कहे जाते हैं। मनुस्मृति में इसे द्विजातियों का अनिवार्य धर्म कहा गया है। मनु ने इसे सम्पन्न करने का समय प्रथम अथवा तृतीय वर्ष निश्चित किया है।

चूड़ा कर्म द्विवजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमें ब्दे तृतीयो व कर्तव्यं श्रुतिवोदनात।। (मनु **2/35**)
यह संस्कार सभी क्षेत्रों में इसी मान्य समय पर सम्पन्न किया जाता है।

यज्ञोपवीत- यह अत्यन्त पुनीत संस्कार है। इसे बरूआ कहते हैं। इसे उपनयन व्रतंका और जनेऊ की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। इस संस्कार के वाचक ये सभी शब्द एक ही अर्थ के द्योतक होते हुए भी अपनी विशिष्ट अर्थच्छायाओं से युक्त हैं। यज्ञोपवीत और जनेऊ शब्द अर्थ की दृष्टि से एक ही वर्ग के हैं। ये दोनों शब्द उपवीत

धारण करने के निमित्त निश्चित शुभ मुहूर्त के सूचक हैं। बरूआ श्रेष्ठतार्थक और उपनयन सत्कर्म या सदाचरण में नियोजित होने के द्योतक हैं। मानव वृकसूत्र एवं काठक में उपनयन के स्थान पर उपानयन शब्द का प्रयोग किया है। काठक के टीकाकार आदित्य दर्शन ने कहा है कि उपानय, उपनयन, मौज्जी, बंधन, बहुकरण, व्रतंका, समानार्थ क है।

अन्यत्र उपनयन शब्द का इस रूप में व्याख्यायित किया गया है वह कृत्य जिसके द्वारा व्यक्ति गुरू, वेद, यम-नियम, व्रत और देवता के सामीप्य के लिए दीक्षित किया जाए उपनयन है

गुरोव्रेतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च।
देवतानां समीपं वा येनासौ नीयतऽसौं। ।**3**। ।

विवाह संस्कार- यह एक शास्त्रीय प्रथा है, जिसके अनुसार स्त्री पुरूष आपस में दाम्पत्य सूत्र में आबद्ध होते हैं विवाह के आठ प्रकार माने गए हैं आर्ष, ब्रास्म, देव, प्रजापत्य, सुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच। ब्रस्म विवाह अधिक प्रचलित है। विवाह के गीतों में वर पक्ष और कन्या पक्ष दोनों के गीत मिलते हैं इनमें तिलक, सगाई, लगुन से लेकर सुहागरात तक के गीत मिलते हैं। वैवाहिक संस्कारों में सर्वाधिक महत्व कन्यादान का है। विवाह का कारूणिक प्रसंग तब आता है जब अपने प्राणों से प्यारी पुत्री को पिता वर को सौंपता है।

राजा जनक जी के बारी पनिहारिन, नाँव न जानौं तुहार,
जौनी सीता के बियाहन आयों, बनकर रूप बताव,
सीता क रूप कहाँ लै बरनौ, मोरे बूते बरनि न जाय,
चाँद सूरज वनके तरवन लोटैं, मानिक बरत लिलार,

कलसा लिहे ठाढ़ी जनक जी कै नाउनि, नाँव न जानौं तुहार,

जे यहि पुतरी उरेहा मोरी नाउनि, वहि सीता कै रूप बखानु,

का हम सीता बखानौ रामचन्द्र, सीता सुरूजवा कै जोति,

सीता की जोति चनरमा छिपति भये, मड़ये मोहैं सिरीराम।

लोक संस्कृति बनाम लोक धर्म- धर्म संस्कृति का कवच है जब ये लोक के साथ जुड़ जाता है तो इसकी सीमाएं बढ़ जाती हैं वह वर्ग से मुक्त हो जाता है। मनुस्मृति में निर्दिष्ट धर्म इन्हीं भावों से गर्भित है-

घृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।

घीविद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।**16/97**

घृति, क्षमा, मन का निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, घी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये धर्म के लक्षण हैं। धर्म के ये सभी लक्षण देश जाति एवं सम्प्रदाय से ऊपर मानव मात्र के लिए हैं, लोक के लिए हैं। ये ही लक्षण जब अपने परिवेश में मूल्य का रूप ग्रहण कर लेते हैं तो लोक संस्कृति का अंग बन पड़ते हैं यही लोक धर्म मानव धर्म का पर्याय हो जाता है और मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा का कारण भी। व्यास ने कहा है-

धर्माः सतां हितः पुंसाः धर्मश्चैवा श्रयः सताम्।

धर्माल्लोकोस्त्रयास्तात प्रवृत्तां सचराचराः।।

धर्म सत्पुरूषों का हित है, धर्म ही सतपुरूषों का आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्म चलते हैं धर्म ही लोक का आचार है धर्म ही लोक जीवन है, धर्म से ही लोक संग्रह होता है इस धर्म पर आधारित संस्कृति ही लोक संस्कृति है।

लोक संस्कृति बनाम स्थानीय संस्कृति- लोक संस्कृति का वृत्त व्यक्ति से समष्टि तक फैला हुआ है व्यक्ति की अपनी सांस्कृतिक निजता होती है जो उसे अपने निजीपरिवेश से प्राप्त होती है स्थान से जुड़कर यह स्थान विशेष की लोक संस्कृति के रूप में ख्यात हो जाती है। जैसे बरसाने की होली। पूरे भारतीय परिवेश से कुछ सविशेष बरसाने की होली का अपना स्थानीय रंग है यह स्थानीय रंग इतना उदात्त और संयमित होता है कि यह अपनी अलग से पहचान बना लेता है ऐसे बहुत से सन्दर्भ हैं जिन्हें विश्लेषित किया जा सकता है।

लोक संस्कृति बनाम वन्य संस्कृति- वन्य संस्कृति की अपनी एक निजता है यह अपनी इसी लोक संस्कृति का अविभाज्य अंग है। एकलव्य जैसा प्रतिभावान छात्र यदि एक ओर इस संस्कृति का उद्गाता बनता है तो दूसरी ओर लोक में प्रचलित गुरू परम्परा की संस्कृति का पोषक भी। इससे बड़ा उदाहरण दुनिया की किसी भी संस्कृति अथवा लोक संस्कृति में शायद ही मिल सके। यही एकात्मवादी एवं सार्वभौमिक चिन्तन है इस लोक संस्कृति का।

लोक संस्कृति बनाम लोक विश्वास- लोक विश्वास जनमानस के आत्मतोष के आत्यन्तिक प्रबल साधन हैं पूरे देश में इन लोक विश्वासों का प्रचलन है कश्मीर से कन्याकुमारी तक का जनमानस बिल्ली के रास्ता काटने पर कुछ सोचता है। सोच का स्वरूप भले ही भिन्न हो। मान्यताएँ चाहे क्यों न अलग हों। मगर सोचता अवश्य है। इसी प्रकार कुछ लोक विश्वास हैं सुअर के ऊपर बैठा हुआ कौआ देखना, कौए का घर की मुंडेर पर बोलना, बिल्ली का घर के आसपास रोना आदि। हमारी लोक संस्कृति के ये सभी संदर्भ जहाँ चौराहे पर खड़े होने की दिशा प्रदान करते हैं वही एक होने का भाव बोध भी प्रगट करते हैं। यही इसकी एक समग्रता है।

लोक संस्कृति बनाम लोक कलाएँ- कला वस्तुतः मनुष्य का मानस विलास है। इसका प्रमाण है-

एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए।
सीतहि पहिराए प्रभु सागर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर।।3/1/2

कला मन को छूट देती है सुन्दर और मधुर के प्रति समर्पित हो जाने के लिए मन इस छूट का लाभ उठाकर सौन्दर्य के निमन्त्रण को स्वीकार करता है और उसमें रम जाता है लोक कला में यह छूट निमंत्रण, रमण और आकर्षक अभिजात अथवा उच्च स्तरीय कला की अपेक्षा अधिक रखता है। लोक कलाएँ हमारी सांस्कृतिक परम्परा के इतिहास पर भी प्रकाश डालती हैं इसका आधार होता है। उनकी शैली रंग और गंध।

लोक संस्कृति बनाम सर्जनात्मकता- लोक संस्कृति एक सर्जनात्मक चिन्तन है इसी सर्जनात्मक चिन्तन है इसी सर्जनात्मकता के कारण यह सनातन होते हुए भी नित नूतन है। हमारा देश आत्मविस्मृत देश है आहत देश है यही लोक संस्कृति हमें आगत का स्वागत और अतिथि और अगवानी की परम्परा का बोध कराती है।

इन तमाम सन्दर्भों के साक्ष्य और लोक संस्कृति के पक्ष हमारे सामने उभर कर आते हैं वे निम्नलिखित हैं-

(1) लोक संस्कृति एक ओर हमारी सामाजिक संरचना एवं व्यवस्था की मूलाधार है तो दूसरी ओर मानवीय एवं नैतिक मूल्यों की पोषिका भी।

(2) यह सहज स्वाभाविक एवं अमूर्तप्रक्रिया है। हमारे अस्तित्व बोध के लिए महामन्त्र है।

(3) यह मानवीय जीवन की जीवतता, समग्रता, पारम्परिक सद्भाव, आत्मीयता और मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने और इतना ही नहीं समझने की अपूर्व क्षमता है।

(4) लोक संस्कृति के उन्नयन से जहाँ हमारा मूल्यबोध बढ़ता है। वहीं हम अपने लक्ष्य के गौरव शिखर को प्राप्त करने में भी सफल होते हैं।

(5) यह हमारे उन नैतिक मानवीय एवं सामाजिक मूल्यों को स्वीकार करती है। जो आज भी हमें दिशा निर्देश देने से सक्षम है।

लोक हमारे जीवन का समुद्र है। उसमें भूतः भविष्यं वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक मौलिकता का रसस्त्रोत लोकगीत ही होते हैं। भोले भाव मिले रघुराई की तरह इस भोली अलौकिक लोकवाणी में राष्ट्र की स्वायत्व सौन्दर्य-भावना एवं जीवन की अकृत्रिम और मिट्टी की सुगन्ध लिए राष्ट्रीयता व्यक्त होती है। एक प्रकार से कहा जाय तो यह लोकगीतात्मक परम्परा दैनंदिन जीवन की महक को सुरक्षित रखती है। यदि हम किसी राष्ट्र की अन्तर्भावना, सिद्धान्तमूलक जीवन-पद्धति का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें इस लोक संस्कृति का ज्ञान करना होगा। यह ज्ञान हमें मुख्य रूप से लोकगीतों द्वारा ही प्राप्त होता है।

नगर में कटी-छटी तराशी हुई सभ्यता दिखाई पड़ती है। ग्रामीण वातावरण में वह स्वाभाविकता है जिससे अन्तवर्ती रस प्राप्त हो सकता है। हम देखते हैं कि जब राष्ट्र में कोई राजनीतिक परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव सर्वप्रथम नागरिक जीवन पर दिखाई देता है। अनेक गाँव ऐसे हैं जहाँ इनकी सूचना तक नहीं पहुँचती। राजनीति अथवा कोई अन्य प्रभाव इस ग्रामीण संस्कृति को प्रभावित नहीं कर सकते इसी कारण लोकगीतों का रस अक्षीण रहता है। मनुष्य शिक्षित होकर अनेक रूप बदलता है परन्तु

इस लोक संस्कृति की गति में कोई खास अन्तर नहीं आता लोकगीतों का रस अपना अलग ही आनन्द देता है। इन लोकगीतों में खाना-पीना, रहन-सहन, चाल-ढाल, व्यक्तिगत पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध जैसे सास-ससुर, ननद-भावज, देवर-जेठ आदि का पारिवारिक विचार-मंथन, अनुशासन या अतीत से चले आ रहे प्रेम-द्वेष, आपसी वैमनस्य या अनुराग, नोक-झोंक, लुकाछिपी, शिकायत, रूठना-मनाना आदि अनेक ऐसे व्यापार हैं जो इन लोकगीतों में गूंजते हैं।

इस लोक गीत धारा में हम प्रकृति के सौन्दर्य का भी दर्शन करते हैं। लहलहाते खेत-खलिहान, नदी-नाले, बावड़ी, पोखर आदि की अपनी छटा होती है जो इन लोकगीतों के माध्यम से मन को प्रफुल्लता देती है। यही नहीं हमारे अनेक ऐसे राष्ट्रीय त्योहार हैं जिसका असली रूप इन लोकगीतों में प्रकट होता है। सावन का महीना आते ही ससुराल में गई सौभाग्यवतियाँ अपना पीहर याद करने लग जाती हैं। वे सावन के झूले वर्षा की फुहारो को याद करने लग जाती हैं। इसी प्रकार दीवाली, होली, रक्षाबन्धन, तीज, दशहरा आदि त्योहारों की गमक इन लोकगीतों में ही मिलती है। लोकगीतों के द्वारा ही इन त्योहारों ऋतुओं पर्वो और प्राकृतिक उपकरणों की उपयोगिता सिद्ध होती है। हमारे राष्ट्रीय-सांस्कृतिक बीजमूलों की परिपुष्ट परम्परा इन्हीं गीतों में सन्निहित है।

परिछ्न करइ चली है वर कामिनी,
आरती सिंघोरा लिए हाथ।
किय हम परिछैं सिर कै मोरू,
किय परिछौं तिलक लिलार,
पहिले त परिछौं सिर के मौरू,
फेरि परिछौं तिलक लिलार।

आजु सोहाग कै राति चन्दा तुम उइहौं।

चन्दा तुज उइहौं, सुरूज जिनि उइहौ।

मोर हिरदै बिरस जिनि किहेउ,

मुरूग जिनि बोलेहु।

मोर छतिया बिहरि जिनि जाई।

तूँ पौ जिनि फाटेउ।

आजु करउ बड़ी राति चन्दा तुम उइहौं।

धीरेधीरे चलु मोरा सूरज

विलम करि अइहौं।

ऐसा नहीं है कि इन लोकगीतों में काल्पनिकता और विचारक्ता का अभाव होता है। अनेक लोकगीत ऐसे सुनने में आते हैं जहाँ कल्पनाशक्ति को देखकर आश्चर्य होता है। पनिहारिन के सौन्दर्य को देखकर कुएँ का उमड़ पड़ना, मुंडेरे पर काग के बोलने से प्रियतम की प्रतिक्षा करना आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो इन लोकगीतों के अक्षीण अन्तर्व र्ती रसस्त्रोत का परिचय देती हैं। जैसा कि पहले कहा गया है इन रसस्त्रोतों को जीवन मिलता ही रहता है। ये कभी क्षीण नहीं होते। इसलिए राष्ट्र की अन्तर्धारा का परिचय देने वाले ये ही रसस्त्रोत होते हैं। लोकगीतों में साहित्यिक गीतों की तरह साज-सज्जा, बुनावट, करीने से की गई तराश नहीं होती। ये अल्हड़ और अज्ञात यौवना की तरह अपने सौन्दर्य को छलकाते हैं।

वास्तव में लोक गीत कभी न छीजने वाले रस के सोते हैं। ये कंठ से गाने के लिए, हृदय से आनन्द लेने के लिए हैं। इसकी स्वाभाविकता, सरसता, स्वच्छन्दता तथा निर्बन्धता हृदय को आनन्दित कर प्रभाव उत्पन्न करती है जिस तरह लहराता हुआ सागर

गम्भीर एवं गहन है, जिस तरह गंगा की धारा पवित्र एवं स्वछंद है, जिस तरह नीलाकाश में उड़ने वाला पक्षी स्वतंत्र और सरल है उसी तरह हमारे लोकगीत स्वच्छन्दता, सरलता एवं सरसता की पीयूष धारा है। किसी राष्ट्र अथवा जाति के इतिहास में लोकगीतों का सांस्कृतिक महत्व है जिसमें मानवता के पंख विकसित होते हैं। लोकगीतों की परम्परा अति प्राचीन है।

इनकी रचना आदि मानव के विकास के साथ-साथ ही हुई है। इनमें मानव के जातीय संगीत का स्वरूप सुरक्षित है। जब मानव सभ्य और असभ्य के अन्तर को भी नहीं पहचानता था यह तभी का संगीत है। यह संगीत मानव के प्राकृतिक जीवन का स्वाभाविक स्वरूप है।

लोकगीत कृत्रिमता के आवरण और कवच को तोड़ कर हमें स्वाभाविकता की शुद्ध हवा में प्रविष्ट कराते हैं। कृत्रिमता से दंभ, पाखंड और अधर्म बढ़ता है, स्वाभाविकता से आत्मशुद्धि संभव है। कृत्रिमता आशा जगाती है परन्तु उसकी पूर्ति नहीं कराती। हिन्दी के अधिकांश विद्वानों ने लोकगीतों को ग्रामगीतों की संज्ञा दी है। उनकी दृष्टि में ग्रामगीत प्रकृति के उद्‌गार हैं इनमें अलंकार नहीं रस है, छंद नही केवल लय है, लालित्य नहीं माधुर्य है। ग्रामगीतों में काव्य-सौन्दर्य है ही, साथ ही वे एक महान सभ्यता का उदघाटन करते हैं। आज भी लोकाचार, स्त्री-आचार आदि के रूप में विद्यमान है। इसीसे लोकगीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खंडिताएँ और धीराएँ न्यौच्छावर की जा सकती हैं क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी है और वे अलंकारों से लदी होने पर भी निष्प्राण है। पाश्चात्य समीक्षकों में से कुछ इन्हें लोकनिर्मित मानते हैं। और कुछ व्यक्तिनिर्मित स्वीकार करते हैं। किन्तु ये लोकगीत सदैव लोक की निधि रहे हैं। इन पर सब का समान अधिकार है-

"Ballads are the pieces on short composed not by the people but for the people and for the people-F.B. Gummere: old English Ballsds, P-90। प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान गेटे ने लोकगीतों की उच्चकोटि की कविता मानते हुए इसे सत्य और वास्तविक कविता कहा है- "When I think of it in quiet, it seems wonder enough that people make so much of Folk songs and rate then so high. There is only one poetry the real and the true, all else is approximation and show. Poetic talent is given to the person as well as to the knigut, it depends whether each one lays hold upon his own condition and treats, It as it deserves in which case the simplest relation will be the most advantageous." लोकगीतों के वर्गीकरण के तीन आधार परिकल्पित किए गए हैं- जातिभेद, ऋतुपरिवर्तन और अवसरानुकूल। अवसरानुकूल से तात्पर्य अवसर विशेष से है। स्त्रियाँ जब खेतों में काम करती हैं तो उन्हें शारीरिक श्रम का अनुभव न हो इसलिए 'सोहनी' नामक लोकगीत अधिक गाती हैं। इसी प्रकार प्रेतबाधा से बचने के लिए 'पचरा', चेचक के आक्रमण करने पर 'शीतला के गीत गाए जाते हैं। कुछ लोकगीत जैसे सोहर, नचारी, मारी, शीतला के गीत केवल स्त्रियाँ ही प्रयोग में लाती हैं और इसी प्रकार चैता, फाग, होरी और चहका पुरूष गुनगुनाते हैं। कजली लोकगीत का प्रयोग स्त्री और पुरूष दोनों ही करते हैं। सामूहिक रूप से भी कर सकते हैं और अकेले-अकेले भी।

तत्वतः लोकगीत अद्भुत रस के सोते हैं, जो न कभी छजिते हैं और न कभी निष्प्राण होते हैं। गीतों की अथाह जल राशि में लोकगीत की एक बूँद भी अपना अलग-अलग अस्तित्व बनाए रखती है। फूलो से सुगन्ध मांगनी नहीं पड़तीं, वृक्ष स्वयंमेव फलों की डालियों को झुका देते है, उसी प्रकार लोकगीत भी बहुजन द्वितीय बहुजन हिताय बहुजन सुखाय से अभिमंत्रित है। लोक गीत मानव की सहजानुभूतियों से सृजित है उनकी लयताल से उसका पोर-पोर झंकृत हो उठता है, उसके अणु-अणु में लोकगीतों का

पावन-पुनीत रस समा जाता है। साहित्यकार और इतिहासकार साहित्य और इतिहास की रचना करते समय साहित्य और इतिहास की सीमा में बंधे हुए अपनी कलासृष्टि को गढ़ते-संवारते रहते हैं, परन्तु लोकगीत, हमारे पूर्वजो की सहज वृत्तियों, संस्कारों, मूल्यों की मूल ध्वनियों को ज्यों का त्यों संजोए हुए हैं। इन्हें किसने रचा, किसने संवारा कोई नहीं जानता, इन्हें किसी ने लिपिबद्ध भी नहीं किया सम्भवतः हम जानते हैं कि इन्हें लिपिबद्ध कराते हम इनकी नैसर्गिकता पर कुठाराघात कर देंगे। देव ऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण के रूप में ऋषियों-आचार्यो ने तीन ऋण गिनाए हैं, परन्तु लोकगीतों के रूप में एक समाज ऋण भी है। ये समाज के दर्पण हैं। सामाजिक संस्कृति, सामाजिक आचार-व्यवहार समाज के नैसर्गिक सौन्दर्य के मुख हैं। हिन्दी साहित्य कोश में लोकगीतों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है- बड़े गीत, स्वांग गीत अथवा नौटंकी गीत, अनुष्ठानिक गीत, पूजा, जागरण व्रत, त्यौहार आदि विविध गीत।

गीतिकाव्य के वर्गीकरण में इतना वैविध्य क्यों? गीतिकाव्य के वर्गीकरण के समय विभिन्न समीक्षको को जिस समस्या का सामना करना पड़ा है वह है गीतिकाव्य में भाव-समष्टि तथा रूप्यों एवं अरूप्यों की अभिन्नता। चूंकि सृष्टि परिवर्तनशील है, इसी परिवर्तनशीलता का अनुकरण करते हुए गीतिकाव्य का प्रतिपाद्य, स्वरूप और अभिव्यंजना शिल्प भी परिवर्तित होता रहा है, इसीलिए जो वर्गीकरण आज तक हुआ है वह अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ नहीं है। परिवर्तनशीलता में अन्तिम नहीं होता यह तो निर्विवाद है किन्तु सर्वश्रेष्ठता एक सीमा तक सिद्ध हो सकती है। ये सर्वश्रेष्ठता ही परिवर्तनशीलता के अस्तित्व को स्वीकृति देती है।

सूत्र रूप में छिन्नमस्तक समाज के मस्तक पर गीत ही मुकुट रखते हैं। गीत का कोणस्थ होना किसी भी राष्ट्र के मस्तक का शून्यमाल है। राजनीति चाहे कितनी ही निकटता स्थापित कर ले परन्तु मानसिक शान्ति और जीवन का क्रम-सौन्दर्य गीतों से ही

अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश करता है। गीत समाज से व्यक्ति और व्यक्ति से समाज को जोड़ता है। ऊपर से भले ही दोनों अलग दिखाई दें, भीतर की धड़कनों में एक हैं। गीतों की ऊष्मा राष्ट्रीय ऊर्जा को आलोकित करती है। अवसरानुकूल गाए जाने वाले भारतीय गीत लोकगीतों के रस की कालातित धरोहर हैं आलोचनात्मक वैचारिकता का आग्रह साहित्यिक गीतों के साथ रहता है। लोकगीतों में परिवर्तन का आग्रह नहीं होता और संशोधन के लिए जागरूकता नहीं होती। साहित्यिक लोक गीतों के विरोधी या विपरीत नहीं हैं अपितु दोनों एक-दूसरे के सौन्दर्य को सुरक्षित रखते हैं। साहित्यिक गीतों की अपनी गरिमा है। लोकगीतों की अपनी एक संस्कृति है, सभ्यता है, अनुशासन है, लोक-संग्रह की भावना है। साहित्यिक गीतों का इतिहास विराट है, भारतीय संस्कृति की थाती है। लोकगीत यदि अल्हड़ और उन्मुक्त हैं तो साहित्यिक गीत श्रृंगारित सौन्दर्य हैं और अनुशासित लज्जापर्य हैं।

किसी भी अंचल के लोकोत्सव, लोक के वे उत्सव हैं जो लोक द्वारा लोकहित में आयोजित होते हैं। सामूहिकता उनकी पहली शर्त है। समूचा लोक एक विशेष कर्म से गतिशील होकर अद्‌भुत एकता की बानगी पेश करता है और यह एकता बाहर और भीतर दोनों की है। असल में, लोकोत्सव लोकमन के मनोविज्ञान का जीता-जागता उदाहरण है। अनेक व्यक्ति एक ही भावना और लक्ष्य से सम्प्रेरित होकर कर्म करते हैं, जिसे देखने और महसूस करने पर अकेला व्यक्ति सहजतः से उसी का अनुसरण करने लगता है। मतलब यह है कि व्यक्ति का सामाजिक मन सामूहिक संकेत पाकर स्वतः चालित-सा वही क्रिया आरम्भ करता है, जो अन्य कर रहे हैं। इस रूप में भावात्मक और क्रियात्मक एकरसता का प्रामाणिक साक्ष्य खड़ा हो जाता है। एकता के शारीरिक और मानसिक चेहरे लोकोत्सव के दर्पण में साफ-साफ दिखाई पड़ते हैं और सिद्ध हो जाता है कि जातीय या राष्ट्रीय एकता का इतिहास लोकोत्सवों के जन्म से ही शुरू हो गया था।

मकर संक्रान्ति के पर्व पर जब लाखों करोड़ों एक ही तिथि और समय पर पवित्र जल में डुबकी लगाते हैं, तब ऐसा लगता है कि सारा राष्ट्र ही एक संकेत पर जाग गया हो।

पूजा-पाठ और जप-तप एकांतिक हैं। वे अकेले व्यक्ति द्वार अपने हित के लिए किये जाते हैं, लेकिन लोकोत्सव एक व्यक्ति के मनाने से नहीं होता, वरन् उसमें अनेक की भागीदारी अनिवार्य है। हर व्यक्ति में एक देव और दानव बैठा होता है। सामूहिक व्यापार में उसका दानव छिप जाता है और देवता बाहर आ जाता है। यदि राष्ट्र के नागरिकों का दानवत्व इन लोकोत्सवों से मार्गीकृत होकर बदल जाता है, तो निश्चय ही समाज-निर्माण में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, होली में कीचड़ डालना, मुख पर कालिख पोतना, गधे पर सवारी कर गली-गली घूमना, गाली-गलौच करना आदि पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं, पर सार्वजनिक रूप में उनके व्यवहार से व्यक्ति के मन में छिपी पशुता तृप्त हो जाती है और पारस्परिक प्रेम की सद्वृत्ति जाग जाती है।

लोकोत्सव केवल उल्लास और आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् लोकसंस्कृति के संस्थान भी हैं। उनमें जहाँ वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, रहन-सहन और चाल-ढाल की झाँकी मिलती है, वहाँ लोकादर्श, लोकधर्म, लोकदर्शन, और लोकसम्बन्धों की सीख भी अनायास प्राप्त हो जाती है। इस दृष्टि से लोकोत्सव आज के मशीनी युग में आस्था और विश्वास के प्रतीक हैं। यदि वर्तमान लोकजीवन में लोकसंस्कृति की तस्वीर देखनी हो, तो वह लोकोत्सवों के समय घरों के भीतर आँगन या पूजागृह में नारियों के अनुष्ठान, व्रत और त्यौहार से सम्बन्धित क्रियाकलापों, आलेखनों एवं कथाओं तथा घरों के बाहर पुरूषों के क्षणिक उल्लासमय परम्परा-पालन में ही मिलेगी। स्पष्ट है कि आज की इस संकटकालीन स्थिति में लोकोत्सव ही हमारी संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं।

लोक जीवन की सरिता सुख और दुख के दो किनारों के बीच निरंतर बहती रहती है। लोकोत्सव सुख के तट पर उगे हरे-भरे वृक्ष हैं, जो अपनी खुराक सुख-दुख से बँधी जलराशि से ही लेते हैं लेकिन दुख का किनारा टूट जाने पर सरिता कहाँ रह जाती है और फिर वृक्षों के उगने का सवाल ही नहीं उठता। मतलब यह है कि लोकोत्सवों का जन्म जीवन की उन घटनाओं पर निर्भर है जो जीवन की उपयोगिता से जुड़ी हों। रामनवमी और जन्माष्टमी राम और कृष्ण के महत्वकार्यो और लोकादर्शो को सामने रखकर मनायी जाती हैं। महापुरूषों की जयंतियाँ मृतकों के प्रति या यूँ कहें कि उनके लोकोपयोगी कार्यो और आदर्शो के प्रति श्रद्धा सम्मान का नैवेद्य हैं। मृतकों या उनकी स्मृति से जुड़ी दुख की अनुभूति धीरे-धीरे उनके कार्यो, आदर्शो और उनसे जन्में यश पर केन्द्रित होकर सुखात्मक हो जाती हैं। फिर इस देश की संस्कृति में मृत्यु मोक्ष का द्वार मानी गई हैं। जायसी तक ने "नाच-नाच जिउ दीजिये", की परम्परा को स्वीकारा था। इसलिए इन जयंतियों मे लोकोत्सवी उत्साह रहता है।

कृषि युग में फसल बोने, उसकी हरियाली, समृद्धि और घर आने तक की क्रियाओं से उत्पन्न उल्लास से ही विभिन्न लोकोत्सवों का उदय हुआ था। ऋतु परिवर्तन की घटनाएँ भी महत्वपूर्ण उत्सवों का आधार बनी थीं। धीरे-धीरे धर्म का वैशिष्ट्य बढ़ा और उत्सवों में धार्मिक मूल्यों का प्रवेश हुआ। धर्म को उत्सवों के प्रमुख आधार के रूप में ही मान्यता दी गई। सामाजिक उत्सवों की परम्परा बहुत पुरानी है आज भी परिवार और समाज को लोकोत्सवों की प्राणशक्ति माना जाता है। वर्तमान भावात्मक और राष्ट्रीय एकता के साधन ये उत्सव ही हैं।

वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार उत्सवों के दो प्रकार थे- एक सार्वजनिक जैसे यक्षरात्रि, कौमुदी जागर, सुवसन्तक आदि और दूसरे स्थानीय जैसे नवपत्रिका, उदकक्ष्वेड़िका, एकशाल्मली, यव चतुर्थी, आलोल चतुर्थी, मदनोत्सव, पुष्पावचायिका

आदि। सार्वजनिक से आशय राष्ट्रव्यापी समानता से हैं, जबकि स्थानीय से एक अंचल में प्रचलित और दूसरे अंचल से भिन्नता में है। कुछ उत्सव देशभर में एक रूपता बनाकर चले हैं जबकि कुछ में स्थान के अनुरूप भिन्नता है। कभी कुछ उत्सव प्रमुख होकर राष्ट्रीय बन जाते हैं और कभी वे गौण होकर विलुप्त हो जाते हैं। समय-समय पर उत्सवों के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। उद्कक्ष्वेड़िका जैसा स्थानीय उत्सव धीरे-धीरे होली जैसे राष्ट्रीय उत्सव में कैसे परिवर्तित हो गया, उसका अपना एक अलग इतिहास है। हर लोकोत्सव का एक इतिहास है और हर युग के अपने खास लोकोत्सव रहे हैं। दोनों रूपों में किसी भी अंचल के लोकोत्सवों का इतिहास लिखा जा सकता है जो तत्कालीन लोकसंस्कृति का एक प्रमाणिक साक्ष्य है, तो दूसरी तरफ लोकसंस्कृति के गतिशील प्रवाह का भी।

लोकोत्सव मनाने की रीतियाँ भी विविधरूपा हैं। उपवास, अनुष्ठान, पूजन, बलिदान, सहभोज, क्रीड़ा, नृत्य, गीत, संगीत, काव्यकथा आदि का प्रयोग आज भी प्रचलन में है। लोकोत्सवों में व्रत, पर्व, उत्सव, त्यौहार आते हैं। व्रत में सम्यक् संकल्प से किया गया अनुष्ठान होता है जो उपवास, मौन आदि के रूप में निवृत्तिपरक और विशिष्ट भोजन, पूजन आदि के रूप में प्रवृत्तिपरक कहा जा सकता है। कुछ व्रत सामान्यतः हमेशा रखे जाते हैं और वे जीवन के अंग बन जाते हैं। क्योंकि वे पुण्य या मोक्ष प्राप्त करने के साधन रहे हैं। कुछ किसी न किसी कारण से किये जाते हैं। कुछ विशेष फल या इच्छापूर्ति की आशा से प्रेरित होते हैं और कुछ आत्मशुद्धि या साधनापूर्व की पवित्रता के उद्देश्य से। व्रत के उपवास को शारीरिक और मानसिक शुद्धि का कारण बी माना गया है। व्रतों के सम्बन्ध में बुन्देली के एक लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ देखे-

अँगना में ठाँड़ी सासो हँस पूछे,
बहू कौन-कौन व्रत कीने लाल अत सुन्दर हो।

कातिन अनायें मैंने गाँव नहाये रई इतवार

उपासी मै नई जानों एइ गुन हो।

व्रतों के साथ-साथ पर्वो का भी महत्व है। परनी या पर्व में स्नान प्रमुख है। बुंदेली अंचल में स्नान के समय को 'परब' कहते हैं और तीर्थो, गंगा या त्रिवेणी, गंगासागर आदि मे स्नान करने को पुण्य, वांछित फल और मोक्ष की प्राप्ति का माध्यम मानते हैं। जेठ में गंगा दशहरा, कार्तिक में पूर्णिमा, मकरसंक्रान्ति, सोमवती अमावस्या आदि प्रमुख पर्व हैं। अर्धकुम्भ या कुम्भी और कुम्भ को महापर्व माना गया है। पर्व-स्नान में उपवास और व्रत रखने का विशेष पुण्य होता है। इसी तरह त्यौहारों में भी व्रत, उपवास, अनुष्ठान और स्नान को समाविष्ट कर दिया गया है। उदाहरण के लिए दीपावली महापर्व है, लक्ष्मी का व्रत है, दीपों के प्रकाश का त्यौहार है और दीपोत्सव तक न जाने कितने अनुष्ठान, व्रत, पूजन, तंत्र-मंत्र, कथा-कथन, नृत्य-गीत, द्यूत-क्रीड़ा आदि घुलमिल गये हैं। त्यौहार में व्रत, पर्व आदि का समन्वय मिलता है। उत्सव में सामूहिक प्रदर्शन और आनन्दोल्लास प्रमुख रहता है, इसलिए व्रत, पर्व और त्यौहार से वह थोड़ा सा भिन्न है। लेकिन लोकोत्सव में सभी समाहित हो जाते हैं, इसी वजह से यहाँ लोकोत्सव शीर्षक को महत्व दिया गया है।

भारत में वर्ष भर ऋतुओं के अनुसार अपने व्रत, पर्व, त्यौहार और उत्सव होते रहते हैं और उनसे सम्बन्धित लोकगीत, लोकथाएँ, लोकरंजन और लोकरस भी चलते हैं जिनमें जिनसे ऋतुचक्री लोकसंस्कृति का पूरा मानचित्र रेखांकित हो जाता है। लेकिन सबसे पहला सवाल लोकोत्सवों की उपयोगिता से सम्बन्धित है। क्या इस अंचल के लोकोत्सव समाज के लिए उपयोगी हैं? क्या उनसे समाज-निर्माण संभव है? आखिर, उनके योगदान के मूल्यांकन का समय आ गया है।

सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और खासतौर से सांस्कृतिक दृष्टि से देखने पर यह सही प्रतीत होता है कि लोकोत्सव लोक कैलेण्डर हैं। जिस तरह किसी शिक्षा केन्द्र के लिए वर्ष भर का तिथिवार प्रस्तावित कार्यसूची का कैलेण्डर बन जाता है, उसी तरह लोकोत्सव जाने-समझे कैलेण्डर हैं। अन्तर केवल इतना है कि शिक्षा केन्द्र में आचार्य रहता है जो कैलेण्डर के कार्यक्रम पूरे कराता है जबकि लोक का कैलेण्डर अपनी इच्छा से संचालित होना है। उसमें व्यक्ति को काफी स्वतंत्रता है, क्योंकि वह स्वतः अपने कार्यो का संचालक है। अगर उस पर कोई नियंत्रण है, तो किसी-न-किसी देवता का, जिसे लोक ने ही चुन लिया है। अधिकांश लोकोत्सव धर्म से जुड़े हैं, जिससे वे अपने आप नैतिकता और शील से नियंत्रित रहते हैं। उनसे युवा पीढ़ी धर्म, नैतिकता, शील, सामूहिक या सामाजिक आदर्शो आदि की सीख अपने आप ग्रहण कर लेती हैं। इतनी मनोवैज्ञानिक ट्रेनिंग शायद ही कहीं मिले। पूरा वातावरण भले ही धार्मिक रहे, पर साम्प्रदायिक गंध कहीं नहीं रहती। लोकोत्सव तो धार्मिक उदारता के शिक्षक हैं, वे दूसरे मतों, धर्मो या धर्मावलम्बियों के प्रति प्रेम ही पढ़ाते हैं, घृणा नहीं।

सोमवती अमावस्या में पीपल की परिक्रमा, सावित्री वट की पूजा, इच्छा या अक्षय नवमी को आँवले के वृक्ष की पूजा, चैत्र के सोमवारों में जगन्नाथ की पूजा में आम के बौर, जवा की बाल और टेसू के फूल का महत्व, गोवत्स द्वादशी को गाय-बछड़े की पूजा आदि से यह स्पष्ट है कि हमें पीढ़ी दर पीढ़ी वृक्षों, पर्वतों, पशुओं और भूमि का सम्मान और सही उपयोग सिखाया गया है। आज जंगल के जंगल काटे जा रहे है, जिससे वर्षा और पर्यावरण की समस्याएँ खड़ी हो गई हैं। आपको आश्चर्य होगा कि भारतीय नारियाँ वट और आँवले से अपना सुहाग लेती है और सौभाग्य पाती हैं। प्रकृति लोक जीवन की चिरसंगिनी रही है। प्रकृति को अलग कर देने से जीवन जटिल हो जायगा। छिति, जल, पावक, गगन, समीर जैसे तत्त्वों से रहित जीवन कब तक चलेगा?

लोकोत्सव पारिवारिक सम्बन्धों की पाठशालएँ है। गणगौर, वट सावित्री, तीजा(हरतालिका) करवा चौथ, कजरी नवमी में पति और पत्नी के सम्बन्धों की कथाएँ हैं जिनमें एक तरफ कजरी नवमी की नारी है जो पति को चूनी-चापर खिलाती है और स्वयं माल-टाल खाती है तथा दूसरी तरफ तीजा और वटसावित्री की नारी हैं जो पति के लिए पार्वती की तरह तपस्या करती है और सावित्री की तरह मौत से संघर्ष। कुनघुसू पूनों में सास कक्ष के चारों कोनों को बहू की मूर्तिया (गोबर की भले ही हों) से सुशोभित करती है और फिर उनकी पूजा से 'बहू' की प्रतिष्ठा ऊँची ठहराती है। इसी तरह संतान-सप्तमी और गोवत्सद्वादशी में माता पुत्र, रक्षाबन्धन, भैयादोज, कार्तिक पूजन आदि में भाई-बहन, फाग में 'देवर-भाभी' आदि सम्बन्धों का आख्यान है। साथ ही हर लोकोत्सव के पीछे एक भारतीय नारी खड़ी है, अतएव नारी की उपेक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इन लोकोत्सवों से समाज के सभी वर्ग संबद्ध हैं। कुम्हार मूर्तिकार के रूप में मिट्टी की मूर्तिया लाता है, मोची अकती (अक्षय तृतीय) की गुड़ियाँ और गुड्डे बनाता है, पाटकार तरह-तरह की राखियाँ देता है, बढ़ई लकड़ी की कला को सुरक्षित रखता है, छिपि वस्त्र तैयार करता है, रंगरेज कपड़े रंगता है, बसोर बँसेड़ों की कला दिखाता है, कमंगर चतेउर लिखता है, धोबिन सुहाग देती है आदि से स्पष्ट हो जाता है कि लोकोत्सवों में निम्न ओर पिछड़े वर्ग की पूरी-पूरी भागीदारी है। साथ ही उनकी मर्यादा के अनुसार उनकी प्रतिष्ठा भी है। धोबिन से सुहाग लेकर नववधू उसके चरणस्पर्श करती है। तीस-चालीस वर्ष पहले बुजुर्ग या बूढ़ी धोबिन, बसोर और नाउन जब नववधू को असीसती थीं, तब वह दूर से अपना आँचल दोनों हाथों में लेकर भूमि पर प्रणत हो जाती थी। आज भी सोर उठने पर धोबिन के पाँव दूर से पराये जाते हैं। नाउन के महावर लगाने पर सौभाग्यवती उसके पाँव पड़ती हैं। इन उदाहरणों से सिद्ध है कि लोकोत्सवों से भाईचारे की अमिट सीख मिलती है।

समाज के आर्थिक जीवन की सीखें भी इन लोकोत्सवों में निहित हैं। कजरी नवमी को कजरियाँ बोने से लेकर रक्षाबंधन को उनके खोंटे जाने तक की विभिन्न क्रियाएँ हर घर की हर नारी को कृषि की ट्रेनिंग देती हैं। इसी तरह नवरात्र में जवारे बोये जाते हैं और प्रतिपदा से लेकर नवमी तक का व्यावहारिक ज्ञान पुरूष को हो जाता है। मकर संक्रान्ति के दूसरे दिन भरभरौंत में कोठरियाँ भरना और उन्हें मिट्टी के घोड़ों पर लादकर बाजार को जाने का स्वाँग वाणिज्य की प्रवृत्ति जाग्रत करता है। दीपावली आर्थिक वर्ष प्रारम्भ होने के शुभ दिन है इसलिए नयी बहियों का पूजन अर्थ की पवित्रता की द्योतक है। दोज में दुकानदार तराजू और बाँट को पूजता है और लेखक, मुनीम लेखनी और दवात को। यह दोनों की ईमानदारी के संकल्प का प्रतीक है। कुम्हारों, मोचियों, पाटकारों, छिपियों, रंगरेजों, लुहारों, कर्मगारों, बढ़इयों आदि शिल्पकारों के व्यापार तो लोकोत्सवों से चलते हैं। एक विशेषता यह है कि सभी में होड़-सी बनी रहती है, जिससे कलाकारिता का वातावरण जीवित रहता है और कला को विकास की तरफ अग्रसर करता है।

आर्थिक क्रियाओं मे उपभोग का महत्व इसलिए अधिक है कि उससे माँग बढ़ती है। समाज में जिन वस्तुओं का अधिक उपभोग होता है, उनकी माँग बढ़ेगी और उन्हीं का उत्पादन बढ़ेगा। लोकोत्सवों से उपभोग सही समय पर होता है और नियंत्रित रहता है। देवोत्थानी एकदशी से गन्ना चूसना, इच्छा नवमी से आँवला खाना, दशहरा से पान का प्रयोग, अकती से नये घड़े रखना आदि उपभोग को नियंत्रित करते हैं। अन्नकूट में अन्न की पूजा से स्पष्ट है कि अन्न का सम्मान इसी में है कि अन्न व्यर्थ में नष्ट न हो। भोज्य की पूजा से स्पष्ट है कि भोज्य या खाद्य की विविधता का सही उपभोग लोकोत्सव बताते हैं। कभी गेहूँ-चावल नहीं खाये जाते , तो कभी सिंघाड़ें का आटा ही प्रयुक्त होता

है। इस रूप में उपभोग संतुलन लाता है, जिससे हर तरह के खाद्य का उचित मात्रा में प्रयोग होता है और माँग पूर्ति में बहुत कुछ सामंजस्य रहता है।

विभिन्न प्रकार की लोककलाओं के गुरूकुल ये लोकोत्सव ही हैं। आसमाई, नागपंचमी, जन्माष्टमी, करवा चौथ, नौरता और दीपावली में चित्रकला विभाग खुला रहता है। नौरता और दिवाली में अल्पनाओं की होड़ सी लगती है। अकती, महालक्ष्मी, गणेशचौथ, नौरता, गोवत्सद्वादशी, गोवर्धन, मकर संक्रान्ति, कार्तिक स्नान, तीजा और शिवरात्रि में मूर्ति कला की शिक्षा-दीक्षा मिलती है। फाग में बेड़नी का राई नृत्य, दीपावली में दिवारी नृत्य आदि नृत्यकला के खुले विश्वविद्यालय हैं। संगीत के बिना लोकोत्सव नहीं होता। हर लोकगीत में शास्त्रीय रागों के बीज छिपे हैं। साथ ही लोककथाएँ, लोकगीत, लोकगाथाएँ आदि लोकसाहित्य के विद्यालय हैं। आशय यह है कि लोकोत्सवों ने लोककलाओं को आज तक सुरक्षित रखा है, नई पीढ़ी को सीख दी है और भविष्य की कला के लिए महत्वपूर्ण योग दिया है।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि लोकोत्सवों ने संस्कृति के दाय को पूरी तरह सुरक्षित रखा है। जब-जब विदेशी और विजातीय संस्कृतियों के हमले हुए है, उन्हें असफल कर अपनी संस्कृति की सुरक्षा का पूरा श्रेय इन्हीं लोकोत्सवों को है। इन लोकोत्सवों की पद्धति पूरी तरह वैज्ञानिक है। एक लोकोत्सव की तिथि, पूजा, लोकचित्र, लोकमूर्ति, लोकगीत, लोककथा आदि सबमें उद्देश्य के प्रति पूरा-पूरा जुड़ाव है। दिवाली में लक्ष्मी जी की पूजा, उन्हीं का चित्र, उन्हीं की मूर्ति, उन्हीं से सम्बन्धित कथा और कथा के सभी अभिप्रायों के प्रतीकों से रचा गया लोकचित्र, पूजा में चाँदी-सोना और रूपये, धन का हिसाब और आय-व्यय, आर्थिक स्थिति और व्यापार का चिन्तन तथा धन या लक्ष्मी के घर आने के स्त्रोत- प्रतीक दीपक (ज्ञान) और कमल (संस्कृति) आदि में लोकधर्म के सूत्र से बँधी एक सुगठित आयोजना है जो अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतया समर्पित है।

उसके सिद्धान्त और व्यवहार में एकता है। साथ ही धर्म, साहित्य, कला, सामाजिक जीवन, व्यक्तिगत चिन्तन और अभीष्ट उद्देश्य सब एक होकर एक दिशा की ओर उन्मुख हैं। किसी भी योजना के कार्यान्वन में ऐसा सामंजस्य कहीं नहीं मिलता।

समाज-निर्माण में जहाँ सांस्कृतिक दाय काम करता है, वहाँ समाज को नये निर्देश भी उपयोगी ठहरते हैं। आज की जटिल परिस्थितियों में लोकोत्सवों की भूमिका कितनी और कहाँ तक उपयोगी है और उनमें कितना-क्या परिवर्तन हो कि वे समाज की नई संरचना में प्रभावकारी पाठ अदा कर सकें, दोनों पहलुओं पर विचार करना बहुत जरूरी है। लोकोत्सवों की पहली विशेष देन है, जीवन में आस्था-विश्वास और उल्लास उत्पन्न करना तथा उन्हें स्थायी मानसिकता के रूप में ढाल देना। इस अंचल में एक व्रत कथा 'आसमाई की कथा' के नाम से प्रचलित है, जो आषाढ़ के तीसरे रविवार को 'बाराजीत' के व्रत में कही जाती है। उसमें भुखमाई, प्यासमाई, नींदमाई और आसमाई के बीच तुलना में 'आसमाई' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्ध किया गया है और उस व्रत में आसमाई की पूजा की जाती है। वस्तुतः इस व्रत में यह बताया गया है कि जीवन में भूख उतनी जरूरी नहीं है जितनी कि आशा। हर लोकोत्सव विश्वास की नींव पर ही खड़ा है और वह जीवन में विश्वास की नींव बनाने की जोरदार वकालत करता है। लोगों को विश्वास है कि लक्ष्मी प्रकाश में ही आती है, इसलिए वे दिवाली में दीपक जलाते हैं। लोकोत्सव तो इसी तरह के विश्वास को जगाते हैं। यदि आज का आदमी काले धन की लक्ष्मी के लिए कहे कि वे अँधेरे में आती हैं, तो इस तरह के विश्वास के पक्षधर हमारे लोकोत्सव नहीं हैं। आस्था और विश्वास की सही रूप में प्रतिष्ठा आज के इस दुविधाग्रस्त जीवन में संजीवनी की तरह उपकारी हैं।

दूसरी विशेष देन है-एकता, जो भावात्मक है और वैचारिक भी। मकरसंक्रान्ति के पर्व पर जब पूरा देश एक साथ एक समय स्नान करता है, तब एकता का सच्चा रूप

दिखाई देता है'। लोकोत्सव में सामूहिकता तो होती ही है, पर हर समूह एक-सा उद्देश्य और एक-सा कार्य करता है जो एकता के लिए अनिवार्य शर्त है। पहले बिन्दु में मैंने उल्लास का संकेत किया था, वह लोकोत्सव की परम उपलब्धि है। उल्लास के बिना जीवन रेगिस्तान हो जाता है। जब उल्लास का पुष्प खिलता है, तभी कीर्ति की गंध फैलती है। जीवन के रस की पहली बूँद उल्लास है, जो लोकोत्सव के पपीहा की आँखों से झिरती है। आज के यांत्रिक, टूटे-थके, विखण्डित और चिन्ताग्रस्त जीवन में लोकोत्सव उल्लास नखलिस्तानी पोखर के समान जीवनदायी है।

लोकोत्सव उस जीवन की तरफ उन्मुख है जो संयमी हैं, व्रती है, तपस्वी है, साधनालीन है, उल्लास की संजीवनी पाकर बार-बार संघर्षो के मेघनादों से जूझता है तथा आशा की सीता और विश्वास के राम के साथ अयोध्या लौटता है। दशहरा में रावण का वध, जन्माष्टमी में कंस का विनाश, नवरात्र में अनेक राक्षसों का संहार और न जाने कितनी पूतनाओं और कितने कुंभकर्णो का नाश बताया गया है। दूसरे शब्दों में, समाज में छिपी राक्षसी प्रवृत्तियों का उन्मूलन इन लोकोत्सवी उद्देश्यों का संघर्षपरक पक्ष है उसी की सफलता के बाद हमारा समाज रासलीला का आनन्द ले सकता है। मेरी समझ में आज की दुर्लभ्य परिस्थितियों में लोकोत्सवी अर्थवत्ता जीवन का सही रास्ता इंगित करती है, केवल प्रश्न है उस अर्थ की सही समझ का।

आज के इस सांस्कृतिक पिछड़ाव (कल्चर लैग) ने लोकोत्सव के सही स्वरूप और वास्तविक अर्थ को भुला दिया है उदाहरण के लिए, चैत्र की पूर्णिमा को माता जी ने तरह-तरह के पकवान बनाये। पाँच या सात मटकियों में उन्हें रखा। मटकियों पर हल्दी से एक पुरूष का चित्र अंकित किया। अगरू, धूप आदि का होम करने के बाद पुत्र से कहा कि मटकियों से एक-एक लड्डू निकाल दो। पुत्र ने वैसा ही किया। उसके बाद सबको प्रसाद में पकवान मिले। प्रसाद बाँटते समय वे कहती जाती थीं-

पजने कं लडुआ पैजर्न खाय।

दौर-दौर कुठिया में जाये।।

जब माता जी से उसका अर्थ पूछा गय, तब वे निरूत्तर हो गयीं। पता लगाने पर अर्थ खुला कि सास-ननद की सेवा से ही पुत्र होता है और वही बहू जब हल जोतती है तब अन्न पैदा होना है। पजन का सीधा अर्थ उपज से है। उपज चाहे वह नर की हो या अन्न की, सेवा का ही प्रतिफल है। इसी तरह कुनघुसू पूनो के दिन एक कमरे के चारों कोनों में गोबर से पुतरियाँ लिखकर या बनाकर बैठायी जाती है और उनकी पूजा की जाती है। जब मैंने पूछा कि ये पुतरियाँ कौन है और उनकी पूजा क्यों होती है, तब उत्तर मिला कि ये बहुएँ कही जाती हैं, पर यह पता नहीं कि किसकी बहुएँ हैं और क्यों पूजी जाती हैं। बहू तो उतना ही जानती है जितना सास ने बताया था। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी अज्ञान का दाय भी मिल रहा है। फल यह हुआ है कि सासें अपनी बहुओं का सम्मान करना भूल गयीं हैं और उन्हें मिट्टी के तेल या पेट्रोल से जलाने लगी हैं।

संस्कृति के विद्वानों और संस्कृति की उत्तराधिकारिणी माताओं -बहनों से आग्रह है कि वे लोकोत्सवों का सही अर्थ फिर से प्रतिष्ठित करें तथा समाज की ग्रहणशक्ति को तौलकर तदनुरूप परिवर्तन भी करें। आप चाहे जितने तर्क दें, पर मेरा अनुभव है कि लोक बदलता है। चैत्र के टिसुआ सोमवार के व्रतों में बार-बार दुहराये जाने वाले लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ देखे-

चट्टिन-चट्टिन बनिया लूटै, सोरा नार फिरंगी।

ठाकुर दौरें पंडा लूटै, जाभी भये उदासी।

स्वामीजू की पूजा में इस यथार्थ की क्या जरूरत थी। आप गहराई से सोचें कि बनिया और पण्डा के लूटने की सत्यता तो उजागर है, पर फिरंगी कहाँ से आ टपके इस

पूजा गीत में। सोरा नार का क्या अर्थ है? सोरा का अर्थ है सोलह श्रृंगार किये हुए और नार अर्थात स्त्री। अर्द्धपंक्ति का अर्थ है कि फिरंगी अंग्रेज सोलह श्रृंगार किये हुई सुन्दर नारी को लूटता है। इस वास्तविकता को इस लोकगीत में गूँथकर जनभावना के अनुरूप परिवर्तन कर दिया गया है, ताकि देश की हर नारी उससे परिचित हो जाये। इसी तरह के परिवर्तन की आवश्यकना है जिसमें यथार्थ और आदर्श दोनों लोकचेतना के अंग बन सकें।

लोकजीवन में नारी जंगल की उस कली की तरह है जो स्वयं उगती है पुष्पित पल्लवित होती है। बाग के फूलों की तरह उसे तराशने कोई माली नहीं आता। वह स्वयंसिद्धा होती है। सोंधी सुगन्ध वाली मिट्टी जैसी होती है। चाँदनी जैसा पारम्परिक प्रकाश होता है उसमें।

लोक-गीतों की नारी से यद्यपि गाँव की एक भोली-भाली, जिज्ञासु आँखों वाली वधू का चित्र ही एकबारगी उतर आता है किन्तु सच तो यह कि गाँव की उस नारी के जीवन के विविध-आयाम हैं। आम नारी की भाँति वह गुण और दोष दोनों को लेकर जीती है किन्तु कुटिलता उसमें अपेक्षाकृत कम पायी जाती है।

लोकगीतों में चित्रित नारी में सहज, स्वाभाविक सौन्दर्य, लज्जाशीलता, करूणा, प्रेम वात्सल्य आदि गुण देखने को मिलेंगे। कोई लजीली नववधू अपने पति पर घूंघट की ओट से प्रेमभरी दृष्टि डालती है। उसके प्रेम की पराकाष्ठा इस रूप में देखने को मिलती है कि वह जल की मछली बनकर जल के बीच रहना चाहती है ताकि उसके प्रियतम जब स्नान को आवें तो वह उनके चरण चूम लें-

होइतों मैं जल की मछरिया
जलहि बीच रहि जइतों हो राम

आही रामा मोरा हरि अइतें असननवा

चरन चूम लेइर्ती हो राम।

पति का वियोग उसे सह्य नहीं है। पति के परदेश जाने पर वह एक अचेतन पदार्थ बनकर उनके संग जाना चाहती है। एक स्त्री लौंग की लता को सम्बोधित करते हुए कहती है-

जो मैं जनतेउ लंवगरि एतना महकतिउ

लंवगरि रंगतेउ छयलग के पाग।

वह इत्र की डिबिया बनकर पति की जेब में पड़कर उसके साथ चाहती करती है। इस वियोग में भी नारी का श्रृंगार भाव झलकता है। संयोग-श्रृंगार में स्त्री के विविध रूप मिलते हैं। कोई पत्नी अपने पति से चुनरी रंगाने का अनुरोध करती है, तो कोई झुमका या कंगन गढ़ाने का हठ करती है। कोई स्त्री रूठकर मायके चली जाना चाहती है तो कोई उससे बात नहीं करती। अगर उसका पति अपनी बहन के लिए अधिक अच्छा उपहार लाता है तो यह उसे सहन नहीं होता।

कई गीतों में पति-पत्नी के बीच तरह-तरह की तकरार होती है। कोई पति विदेश जाना चाहता है। पत्नी रूठकर किवाड़ बन्द कर लेती है। पति उससे किवाड़ खोलने का अनुरोध करता हुआ कहता है कि मुझे विदेश जाना है। पत्नी अन्दर से जवाब देती है-यदि तुम्हें विदेश जाना है तो जाओ, पर मेरे बाबा को बुला दो, मैं नैहर जाऊँगी। पति कहता है-नैहर जाओगी? तो तुम पर मेरा जितना रूपया खर्च हुआ है, वह लौटा कर जाओं। पत्नी कहती है- रूपया लोगे? अच्छा तो मैं अपने बाबा के घर विवाह के पहले जैसी थी, मुझे वैसी ही कर दो। इस तरह की हाजिर जवाबी पति को निरूत्तर कर देती है।

एक अन्य गीत में पत्नी की कोमल भावना पति को प्रभावित करती है। कोई पति सावन में मोरंग देश जाना चाहता है। भरी बरसात में पति का वियोग उसे सहा नहीं, इसलिए वह बादल से प्रार्थना करती है कि वे मूसलाधार बरसे और उसके पति की यात्रा स्थागित करा दे। पति तब कहता है, तुम चाहे कितना भी मनाओ, मैं वर्षा में भीगते हुए और धूप में जलते हुए भी मोरंग देश चला जाऊँगा तो पत्नी उसे धमकाती हुई कहती है-अच्छा में राह की फिसलन बन जाऊँगी और तुम्हें जाने नहीं दूंगी। पत्नी का ऐसा प्रेम अन्त में पति को रोक ही लेता है।

पत्नी अपने प्रिय को अपनी अंगूठी का नगीना समझती है। मिलन की रात में वह चाँद उगने से रोकना चाहती है और रात जल्दी शेष न हो, इसलिए सूरज को देर से उगने का अनुरोध करती है। प्रिय के वियोग में उसकी आँखे सरोवर बन जाती हैं। काजल पानी बन जाता है और शरीर लहर सो उठता है

नयन सरोवर काजर नीर
ढरकि खसत सखि धनक शरीर।

पत्नी में प्रेम के अतिरिक्त सेवा का भाव भी प्रबल है। सांझ की बेला में पति जब खलिहान से थका मांदा आता है तो पत्नी अंजुरी में पानी लेकर उसका मुख धुलाती है और धीमे-धीमे पंखा डुलाकर उसकी थकान दूर करती है-

सांझ के बिरिया पिया अइतन खरिहनवा से
डोला वहइ गोरिया रसे रसे बेनियां।

लोकगीतों की यह नारी अपने अधिकारों के लिए पूरी तरह सजग है। वह दूसरी पत्नी को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। इस विषय में वह इतनी कठोर है कि सौत

की छाती कूटकर सड़क बनाना चाहती है। इस ईर्ष्या में भी लोक नारी का सहज नैसर्गिक प्रेम ही झलकता है।

दैनिक जीवन में अपनी आस्था एवं धार्मिक भावना को मूर्त रूप देने के लिए वह पति का सहयोग चाहती है। पूजा की सामग्री लाने में वह अपने पति पर ही निर्भर है किन्तु यह आश्रयभाव प्रेम की अनुभूति के लिए अपेक्षाकृत अधिक है। जहाँ कहीं देश पर विपत्ति की बात आती है, वहाँ यह कोमल कुसुमकली अपनी दृढ़ता और त्याग का परिचय देती है। खेती छोड़ जब उसका पति सीमा पर जाने लगता है तो वह गर्व का अनुभव करती है और कहती है-

छोड़ किसानी बाना सैंया बन गइले सिपहिया
कांधा पर बंदूक सजल बा माथे पर पगरिया।

आगे वह पति से अनुरोध करती है कि वह युद्ध में पीठ न दिखाये और गोली झेलना है तो छाती पर झेले। जिन दिनों गाँधी जी ने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने का आह्वान किया था, गाँव की यही नारी रेशमी वस्त्रों को आग में डालकर खादी पहनने का संकल्प कर बैठी थी-

पिया हो गाँधी जी के राज में
हम खद्दर पहिरब ना।

माता के रूप में लोक गीतों की नारी वात्सल्य और करूणा से लबालब भरी है। बच्चे के लिए माँ की ममता इतनी प्रबल होती है कि जरा भी आँख की ओट होने पर माँ के मन में तरह-तरह की आशंकाएँ होने लगती हैं।

बहन के रूप में लोक गीतों की नारी का अलग ही रूप है। वह भाभी से छेड़छाड़ करती रहती है। हठ करके उपहार मांगती है और यदा-कदा भाभी के लिए मुश्किलें भी खड़ी करती है। लंका-विजय के बाद सीता जब अयोध्या लौटती हैं तो राम की बहिन शान्ता उनसे रावण के रूप स्वरूप के विषय में पूछती हैं तो सीता बताना नहीं चाहती तो वह कहती हैं कि कहना नहीं चाहती तो रावण का चित्र बनाकर दिखा दो। सीता वैसा ही करती हैं। भोजन कराते समय शान्ता अपने भाई राम से सीता की शिकायत करती हुई उसके चरित्र पर लांछन लगाती है। भाई को वह कहती है कि सीता तो अब रावण का चित्र बनाकर देखती है।

इन सभी से परे लोक गीतों में एक कर्मठ गृहिणी के रूप में नारी का चित्र आता है, घर-गृहस्थी चलाते हुए बच्चों पर ममता लुटाते हुए खेतों में रोपाई कटाई करते हुए ओखली में धान कूटते हुए खेतों में रोपाई कटाई करते हुए ओखली में धान कूटते हुए चक्की पीसते हुए या चरखा कातते हुए उसके जीवन के विविध आयाम उसके एक सम्पूर्ण नारी के रूप में चित्रित करते हैं।

लोक साहित्य लोक के अर्थात लोकजनों की भाषा है। गीत का सृजन तो आशा है लेकिन जब वह साथ संग है तो उसमें संशोधन स्वतः होता जाता है। जब गीत बन जाता है तो वह लोकगीत रससिद्ध कवि शिरोमणि के द्वारा रचा गया है। जिनमें से प्रमुख हैं ईसुरी, रंगपाल, छोटकन आदि। लेकिन गाँव गंध से उपजे तो गंध विखेरते हैं लोक साहित्य दो भागों में बाँटा है। माटी की गंध और जनमत जब लय, स्वर-ताल, शब्द सराबोर हो जाती है। तो लोकगीत बन जाते हैं। लोक साहित्य और लोकगीत उत्सव लोक मंगल लोक सुख लोक आकांक्षाओं का प्राकट्य। लोक साहित्य मुख्यतः ये है- 1. लोकगीत 2. लोककला 3. लोक साहित्य 4. लोक गाथा

लोक गीतों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं।

(अ) संस्कार गीत- जन्म में पुत्र जन्म आदि।

(ब) ऋतुगीत- सावन बारहमासा राछरा आदि।

(स) क्रियागीत- जतसा और फसल कटाई आदि

(द) शिशु क्रीड़ा गीत- यौवन की छोड़छाड़ तथा संस्कार गीत

लोकसंस्कृति लोकजीवन का दर्पण है। लोकशब्द में जीवन का एक विराट भाव समाहित है। वस्तुतः लोकसाहित्य और लोककला ही वे उत्स है जिनसे शिष्ट साहित्य एवं शास्त्रीय कलाओं की धारा निकलती है।

मानव संस्कृति के विकास के साथ कला और संस्कृति भी निरन्तर विकसित होती रही है। इस संस्कृति का स्त्रोत लोककला है। लोककला वह वस्तु है जो हमारे गाँव के माटी के घर आंगन में जन्म लेती है और हमारे सम्पूर्ण जीवन में रच बस जाती है। ये लोक कलाएँ हमारे पर्व त्योहार एवं सांस्कृतिक आदर्शो से जुड़ी है। इनमें हमारी संस्कृति की धड़कन है, आत्मा है, जो हमारे लौकिक जीवन में आलौकिक, आनन्द, उल्लास और उमंग का संचार करती है।

लोककलाओं की प्रकृति में एक सहजता, एक सरलता होती है, फिर भी इन्हें अनाड़ी हाथों की रचना नहीं समझा जा सकता। लोककलाकार सोच समझकर किसी अनमोल कृति को बनाने की महत्वाकांक्षा लेकर रचना नहीं करता, बल्कि सहज, नैसर्गिक, बालभाव से बातों ही बातों में वह अपनी कला को मूर्तरूप दे बैठता है लोककला हमारे जीवन के हर पक्ष को सरस बनाती है। जैसे मिट्टी की सोंधी सुगन्ध, जैसे सावन-भादों की बारिश, जैसे पुरवा हवा, जैसे चाँदनी की शीतलता, जैसे सूरज का तेज, उसी प्रकार लोककलाएँ प्रकृति की नैसर्गिकता से सराबोर होती हैं। लोककलाओं का तात्पर्य ही है वे

कलाएँ जो स्वतः स्फूर्त हैं, कहीं सीखी नहीं गई। पारम्परिक विरासत के रूप में जो एक हाथ से दूसरे हाथ में स्थानान्तरित होती रही हैं। लोककलाओं के विविध रूप लोकगीत, लोकनृत्य, लोकगाथा, लोकनाट्य, गोदना, मेंहदी, टिककुली शिल्प, मूर्तिशिल्प, भूमिचित्रण, अरिपन या अल्पना, भित्ति चित्रण तथा तांत्रिक चित्रकला के रूप में लोक व्याप्त है। इन लोकस्वरों को गाकर या पढ़कर हम आज भी अपन अन्दर एक उत्साह ऊर्जा नथा नई चेतना प्राप्त करते हैं।

मिथिला की मधुवनी पेंटिंग आज राष्ट्रीय एवं अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बना चुकी है। ऐसी अनेक लोक कलाएँ वर्तमान युग में गाँवों की सीमा पार कर नगरों में और देश की सीमा पार कर वैश्विक स्तर पर आ पहुँची हैं, किन्तु नये प्रयोग करके इनकी मौलिकता पर प्रहार करने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रकृति अपने प्राकृतिक रूप में ही अच्छी लगती है। ताजा फूलों पर कृत्रिम रंग उन्हें बदरंग ही बना सकते हैं।

इन लोककलाओं में समाहित है हमारी संस्कृति के इन्द्रधनुषी रंग। हमारी परम्परा की मौलिक गाथा गाती ये लोककलाएँ आज भी पूरी पहचान के साथ प्रासंगिक है।

पारम्परिक लोकगीतों, लोकनृत्यों में जो आधुनिक प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं वे उसके प्राकृतिक आकर्षण को कम करने का ही प्रयास करते हैं। आज भी लोक कलाओं के पारखी इनकी मौलिकता को पहचानते हैं और इनके आधुनिकीकरण को एक त्रुटि ही मानते हैं। इन कलाओं में हमारे संस्कार हैं, हमारे रीति-रिवाज हैं और हमारी संस्कृति अस्मिता है, इसलिए इन्हें अपने निजी रूप स्वरूप में रखे जाना प्रासंगिक भी है और लोक संस्कृति संरक्षकों का कर्तव्य भी। इन लोककलाओ में हमारी संस्कृति की आत्मा है और इनसे दूर रहकर हम अपनी संस्कृति को निष्प्राण कैसे कर सकते हैं?

लोक-कला के दो प्रमुख पोषकतत्व होते हैं। पहला परम्परा तथा दूसरा विस्तृत लोकमानस। ललित कलाओं में इनका अभाव रहता है। ललित कलाओं में जब-जब परम्परा का प्रभाव बढ़ा वे रीतिबद्ध हो गयीं, उनकी प्रगति ठहर गयी, किन्तु लोक-कला की धारा परम्परागत होते हुए भी रीतिबद्ध नहीं होती। इसी प्रकार लोक-कला का दूसरा पोषक तत्व उसका लोकमानस में विस्तार है। वे भी लोकमानस व्याप्त होती हैं। लोक-कलाओं का सर्जक कोई एक व्यक्ति नहीं होता। वे न तो एक व्यक्ति के स्वान्तः सुखाय तक सीमित होती हैं और न ही सामाजिक स्तर, प्रतिष्ठा एवं वैभव के प्रदर्शन का साधन बनती हैं। संस्कृति के चार स्तम्भों- धर्म, इतिहास, कला और लोक जीवन को समेटते हुए लोककला-परम्परा की धारा आगे बढ़ती है।

किन्तु जिस प्रकार नदियों के मूल स्त्रोत के क्षीण हो जाने से और उनमें दूषित सामग्री के मिलते चले जाने से उनके प्रवाह में कमी आ जाती है और उनका जल प्रदूषित हो जाता है उसी प्रकार का संकट लोक-कलाओं पर भी मंडरा रहा है। लोक-कलाओं पर विचार करते समय आज यह भी विचारणीय हो गया है कि लोक-कलाओं की आज स्थिति क्या है और उनका भविष्य कैसा है। लोक-कलाओं में जो लोकमानस की धड़कन है क्या उसमें कोई अवरोध तो नहीं आने लगा है। क्या सामाजिक विघटन, तनाव, भाग-दौड़, रहन-सहन के स्तर की भूख आदि के प्रदूषण से हमारी लोक-कलाओं की धारा अवरूद्ध तो नहीं हो रही है?

दूरदर्शन के प्रसिद्ध धारावाहिक 'हमलोग' में मध्यम परिवार की कहानी थी जो आज के तड़क-भड़क वाले धारावाहिकों से बहुत पिछड़ा हुआ माना जा सकता है, किन्तु उसके लोक मन को बहुत गहराई तक प्रभावित किया था। अधिक से अधिक लोक रूचि से जोड़ने के लिए उस धारावाहिक के प्रत्येक एपिसोड के अंत में अशोक कुमार जैसे सफल अभिनेता को अपनी बात एक लोक रचना 'छन्न' के माध्यम से कहना अधिक

अच्छा लगा। यह कोई पूरा एक गीत नहीं होता केवल 'छन्न पकैया छन्न पकैया' पद्यांश कहकर आगे पूरे पद्य में अपनी बात की तुक जोड़ ली जाती है। किन्तु ये चार शब्द जादू भरे हैं। विवाह के अवसर पर फेरों के बाद वधू पक्ष के कुल देवता के थापे के सामने महिलाओं के बीच छन्न(छन्द) सुनकर वर की हाजिर जवाबी की परीक्षा ली जाती है। यद्यपि पूरे छन्द में सभी अंश सार्थक नहीं होते, किन्तु 'छन्न पकैया' तो रहेगा ही। भले ही वह आज मात्र औपचारिक रह गया है।

लोक मन बालक की भाँति सरल होता है। उसमें रंगों के प्रति प्रबल मोह होता है। बसन्त पंचमी पर अपने कपड़े स्वयं बसन्ती रंग कर पहनने में जो उल्लास था वह सिकुड़ने लगा। केवल रूमाल रंग कर त्योहार मनाया जाने लगा और अब वह भी गायब हो गया। अब यदि अवकाश न हो तो पता ही नहीं लगे कि कब चली गयी बसन्त पंचमी। इस देश के चार बड़े त्योहार- श्रावणी, विजयादशमी, दीपावली और होली में, होली को शूद्रों का त्योहार घोषित कर दिया गया। यह लोक के प्रति अभिजात्य का तिरस्कार था। अभिजात्य वर्ग को यह कैसे सहन हो कि आम आदमी रंगों का त्योहार इतनी मस्ती से मनाए जबकि कोई वर्ग ऐसा नहीं जो होली को उल्लास से न मनाता हो। होली तो लोकोत्सव है रंगों का खेल। रंगों के आकर्षण में डूबा मन कहता है लो मेरे कपड़ों को कैनवास बना लो और जी भरकर रंग दो इन्हें। कितना सहज एवं उल्लासपूर्ण था रंगों का मोह जो रंगने को भी आतुर था और स्वयं को रंगवाने में भी, किन्तु अब हम अधिक सभ्य और सुसंस्कृत होने लगे हैं। न रंग उछाल सकते हैं और न ही उनमें सराबोर होकर उल्लासित हो सकते हैं क्योंकि सहज उल्लास छीज रहा है, ओढ़ी हुई आधुनिकता की दृष्टि में होली खेलना फूहड़पन है। रंगों की बौछार गुलाल के टीके तक सिमट गयी। कसकर गले मिलने से झिझकने लगे, अब हाथ मिलाकर काम चल जाता है।

माँ गोबर्धन के त्योहार पर गोबर से सारा गोकुल साकार कर देती थी। गाय भी, बछड़े भी, बछिया भी और ग्वाले भी। किन्तु आज जब विजयादशमी पर बेटे-बेटियों को आटे के चौक में दसों दिशाओं के प्रतीक स्वरूप गोबर के गोले बनाने को कहा जाता है तो वे नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उन्हें बदबू आती है। हाथों को कई-कई बार धोते हैं। न तो गोबर धन रहा न जीवन की आवश्यकता, उसके प्रति घृणा का भाव आने लगा, तब कौन होली पर फुलहरा दोज पर गोबर के बरगुले बनाए, जिनमें सामान्य गेंद जैसी आकृति के साथ सूरज, चाँद, पान आदि की आकृतियाँ सोल्लास बनायी जाती थीं। गोबर की लोक गंध अब हमें नहीं भातीं तब गोबर लिपे आंगन में चौक पूरने की बात करना असंगत सा लगता है, भले ही गोबर की शिल्परचना को ट्रिनाले (नयी दिल्ली) में प्रदर्शित किया गया हो।

अब कौन नागपंचमी पर आस्तीक ऋषि की आन को स्मरण करके प्रतीक स्वरूप घर के बाहर की पूरी दीवार पर काली स्याही से समान्तर रेखाएँ खींचे, कौन बनाए द्वार पर नाग का प्रतीक, श्रावणी पर रूई को सींक में लपेटकर गेरू के घोल में डुबा कर कौन बनाए घर के मुख्य द्वारों पर सोहन, अहोई पर दीवार पर माता का डोला कैसे अंकित किया जाये जब दीवारों पर हो रहा हो आयल बाउन्ड डिस्टैंपर या प्लास्टिक इमल्शन का रंग। दीवारों को खराब कौन करे। कहाँ पूरे मांगलिक चौक, सारे घर में जूते-चप्पल आते जाते हैं। अब तो सारे त्योहार कागज पर छपे हुए आते हैं, कहीं रखकर पूज लीजिए (यदि पूजना मजबूरी हो तो) आस्था से या अनास्था से और अगले दिन फेंक दीजिए 'डस्टबिन' में। मात्र औपचारिकता होते जा रहे हैं रीति-रिवाज। मिट्टी, गोबर, गेरू, चावल की पीठी, हिरौंजी, रामरज, पेवड़ी, चूना, तवे का काजल, गेदें के पत्तों का रस जैसे लोक रंगों की अब बात कैसे की जाय; घर-घर में पोस्टर रंगों की शीशियाँ मिल जायेंगीं। दुःख-सुख सभी हैं किन्तु अब किशोरियाँ साँझी में संध्या दीपक जलाकर उसके

सामने ससुराल के जीवन के भविष्य की उन व्यथाओं को लोकगीतों में कैसे मुखरित करेंगी जिन्हें वे अपनी विवाहित सहेलियों को भोगते हुए देखती चली आ रही है? अब साँझियों की झिरियों से छनते झिलमिलाते आलोक में कौन गायेगा-

'ये घर कैसे निभैगो,
निभैगो मेरी झिंझिया ये घर कैसे निभैगो'

लड़कों की अल्हड़ टोली अब रंग बिरंगे टेसू के बीच दीपक जलाकर घर-घर जाकर गीत कैसे गायगी जब अन्ताक्षरी फिल्मी गीतों की होने लगी। आज ये गीत फूहड़ ही माने जायेगें।

'आज मेरा टेसू यही गढ़ा,
खाने को मांगे दही बड़ा'
'आज मेरा टेसू का ब्याह हुआ धम-धम छदम्मा,
कहा बियाहन जायेंगे धम-धम छदम्मा'

मारबल के कालीन ढके फर्शों पर दीपावली पर कौन बनाए गेरू चूने से लक्ष्मी के मांगलिक पग चिन्ह। रोली के पावन छीटें देहरी की चौखट पर कैसे दिये जायें। सम्पन्नता की दौड़ है। कच्चे आँगन ईटों के हुए, मोजाइक के हुए, अब पत्थर बिछाया जाने लगा। धार्मिक कर्मकाण्डों का आधुनिकीकरण हो गया, धन तथा वैभव का प्रदर्शन भर रह गया। लोक-कला आभिजात्य वर्ग के ड्राइंग रूम की बन्दिनी हो गयी। मधुबनी पेंटिग इसलिए दिखावे के साथ लगाई जायगी, क्योंकि उसे विदेशों में भी मान्यता मिली है। फोक मोटिफ 'स्टेटस सिम्बल' बनते जा रहे हैं किन्तु लोक जीवन से फासला बढ़ता जा रहा है। लोक-मन छीजता जा रहा है। अपने हाथों से रंग बनाकर, घोलकर, उबालकर लोकचित्र बनाने के संस्कार विलीन होते जा रहे हैं। लोक-कलाएँ वैभव प्रदर्शन

का माध्यम होती जा रही हैं। लोक गीतों के अंश सिनेमा के गीतों में जाकर ग्लेमराइज होने लगे हैं। लोक-कला के गुणों को व्यक्तिगत बना लेने वाले चित्रकार पूजित हो गये। कई चित्रकार लोक चित्रों जैसे चित्र बनाकर आगे बढ़ रहे हैं किन्तु वह लोक-कला नहीं है, यह लोक-कला का अभिजात्यीकरण है। सधे हुए हाथों में जाकर लोक-कला के तत्व व्यक्तिगत मौलिकता में ढल जाते हैं, उनका लोकमानस से जुड़ाव नहीं हो पाता। 'लोक' व्यक्ति की थाती नहीं होता, उसके साथ अनेकानेक मनों का उल्लास और अनगिनत अनगढ़ हाथों की सर्जनात्मकता होती है। आज कोई कितना भी प्रयास करे प्रागैतिहासिक काल जैसे चित्र नहीं बना सकता।

आइये देखें अपने आसपास जहाँ तक भी पीछे स्मृति ले जा सके, उन पुराने दिनों से आज तक की यात्रा में कहाँ बिछुड़ गई वे सहज स्फूर्त लोक-कलाएँ, लोक-गीत और लोक-संस्कार। सोचिए क्या हम उन्हें वहाँ से अपने साथ ला सकते हैं जहाँ-जहाँ वे पीछे छूट गयीं थीं। विचारिए वह लोकमन कैसे जागे जो दो पैसे के मिट्टी के खिलौने के लिए मचलता था। रोबोट-राकेट के चमत्कारिक खिलौनों में और आँख नचाती गाना सुनाती आधुनिक गुड़ियों में खोया बाल मन कैसे लौटे नानी, दादी द्वारा हाथ से बनायी गयी कपड़े की गुड़िया की ओर।

लोक-कलाओं पर बात करते समय आज यह भी स्वीकार करना चाहिए कि लोकमानस का दायरा सिकुड़ रहा है और यह सिकुड़न धीरे-धीरे कलाओं की धारा को अवरूद्ध न करे यह देखना वर्तमान का कर्तव्य है।

लोकगीत माधुर्य, उल्लास और संवेदना के अक्षय स्त्रोत आदिम युग से इसलिए रहे हैं, क्योंकि समाज उसमें स्वयं को अभिव्यक्त करता रहा है। लोक संगीत में उल्लास की जो अनन्त सम्भावनाएँ हैं, उसके कारण यह सदैव से लोगों के मन को आकृष्ट करता

रहा है। ये गीत निसर्ग की गोद में आकार ग्रहण करते हैं और सतत परिवर्तन ग्रहण करते हुए युगयुग तक अपनी आवाज की गूँज बनकर प्रसारित होते रहते हैं। इन गीतों ने परिवर्तनशील समाज के प्रभाव के अनुसार परिवर्तन की प्रक्रिया में निरन्तर अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। क्योंकि यह समृद्ध वाचिक परम्परा एक ओर तो वेदों की भाँति अपौरूषेय और शाश्वत है, पारम्परिक है, दूसरी ओर उसमें समय के प्रवाह को पहचानने और उसके अनुरूप परिवर्तन ग्रहण करके स्वयं को ढालने की भी क्षमता है।

यह सच है कि लिखित साहित्य में विशेषकर कविता में, जितने प्रयोग हुए उतने लोकगीतों में नहीं। परिवर्तन तो स्वाभाविक है पर वाचिक परम्परा के मूल रूप को सुरक्षित रखने का भी निरन्तर प्रयास किया गया है। इसलिए विभिन्न संस्कारों तथा व्रर्त पर्वत्योहारों के अनुष्ठानों के अवसर पर इन गीतों का प्रयोग मन्त्रों की भाँति अनिवार्य और पवित्र मानकर किया जाता रहा है। जैसे भोर जगाने के गीत, सन्ध्या जगाने के गीत, तेलवाई, मटमँगरा और विभिन्न रोगों के निवारण के लिए गीत और मन्त्रों आदि का प्रयोग सुनिश्चित होता है। इसी कारण आदिवासी संस्कृति की कुछ निर्विकार विशेषताएँ अभी भी लोकसाहित्य में प्रचलित हैं और लोकसाहित्य कुछ दृष्टि से आधुनिक विकारों से अछूता है। इसका कारण है लोक संस्कृति की अपनी आदिम संस्कृति के प्रति निष्ठा और उसे यथावत बनाये रखने का संकल्प तथा धर्मभीरूता। क्योंकि इनके साथ लोक मंगल भाव जुड़ा है, अमंगल की आशंका के कारण परिवर्तन के पक्ष में लोक उत्सुक नहीं होता। परिस्थितियों के दबाव से कुछकुछ परिवर्तन सहज ही आ जाते हैं। सभ्यता का दुष्प्रभाव उस पर धीरेधीरे पड़ता है। जनसामान्य की आवश्यकता और साधन सीमित होने के कारण सन्तोष उनका सबसे बड़ा धन है जो गीतों में निरन्तर अभिव्यक्ति पाता रहा है। यहाँ एक गीत का उदाहरण देना चाहूँगी

धइ देत्या राम हमारे मन धीरजा.....

सब की महलिया म दियना बरतु है,

हरि लेटया हमरो अँधियार, हमारे मन धीरजा .....

सब की महलिया म भोजना बनतु है,

हरि लेत्या भूखि हमारि, हमारे मन धरिजा.....

सबके महलों में दीपक है, भोजन बन रहा है, हमारे अँधियारे और भूख का ही हरण कर लो। यह प्रार्थना ही स्पृहणीय है।

संस्कृति एक दूरगामी दृष्टि रखती है। जब तक वह दूरगामी प्रभाव को देखती है, तब तक तत्कालीन महत्व को ध्यान में नहीं रखती, उस महत्व की जाँच करती हैं। आज यह ज्वलन्त प्रश्न प्रायः उठाया जा रहा है कि हमारी संस्कृति खतरे में है और यदि गहराई से विचार करें तो लोकसंस्कृति सबसे अधिक खतरे में है। इस खतरे के दो प्रमुख कारण हैं एक तो समूह संचार साधनों का दबाव और दूसरा संस्कृति को उपभोग की वस्तु मानने वाली दृष्टि। इलेक्ट्रानिक मीडिया द्वारा प्रसारित कार्यक्रमों में एकरूपता अधिक रहती है, विभिन्नता कम। लोकसंस्कृति की एक विशेषता है कि वह एक होते हुए भी थोड़ेथोड़े अन्तर से अलगअलग विकसित होती रही है, जिसके कारण उसकी विविध रंगते हैं। आज अनेक प्रकार की धुनों की विविधाएँ और भंगिमाएँ, लुप्त होती जा रही हैं। लोकगीतों की एक अलग रेडियों धुन ही बन गयी है। समूह संचार साधन मशीन के साथ समझौता करके लोकगीतों को समयसीमा में बाँध देते हैं विविध प्रकार की योजनाओं के प्रसारप्रचार के लिए, जो लोकगीतों के स्वभाव के विपरीत हैं। यह बात भी सच है कि लोकसाहित्य सामाजिक विसंगतियों के प्रति तटस्थ नहीं रह पाता। उसकी पीड़ा के अनुभव को वह बड़ी स्वाभाविकता के साथ अभिव्यक्ति देता है और उसकी संवेदना एक व्यक्ति की न रहकर पूरे समाज की वेदना से जुड़ जाती है। इसलिए वह चिरपुरातन होते

हुए भी चिरनूतन बना रहता है क्योंकि मानवीय संवेदनाएँ शाश्वत है। लोकसाहित्य अपने समकालीन समाज के भीतर की मूल्यवत्ता की जाँच भी करता रहता है।

आज लोकगीतों से कटने के कारण मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य से सहज पैदा होने वाली आत्मीयता चुकती जा रही है। हमारी वाचिक परम्परा सम्बन्धों के साहचर्य पर टिकी है। वे सम्बन्ध अब चरमरा रहे हैं क्योंकि हम लोकगीतों के यथार्थ और आस्वाद दोनों से अलग होते जा रहे हैं। इस वाचिक परम्परा से कटने के कारण ही हम धुनों और लय की पहचान से वंचित हो रहे हैं, केवल संगीत की लय की पहचान से ही नहीं, पूरे जीवन की लय की पहचान से भी। इस लय को पहचानना सम्पूर्ण जीवन को पहचानना है।

आज लोकसाहित्य के समक्ष कई चुनौतियाँ खड़ी हैं। गाँवों में शहर का प्रवेश निरन्तर बढ़ता जा रहा है, गाँव निरन्तर टूटता जा रहा है। ऐसी स्थिति में केवल लोकसाहित्य की जीवन्त रसधार ही ऐसी है, जो उसे टूटने से बचा रही है। गाँव का प्रवेश शहर में अगर कहीं दिखाई देता है तो वह लोकसाहित्य के माध्यम से। किन्तु इधर फिल्मी धुनों का लोकगीतीकरण उसकी सहजता पर बुरी तरह प्रहार कर रहा है। चाहे लोकगीतों की धुनों का फिल्मीकरण हो या फिल्मी धुनों का लोकगीतीकरण, दोनों ने ही इस सहज विधा को बहुत प्रभावित किया है।

वैसे लोकसाहित्य तमाम चुनौतियों का उत्तर स्वयं ही है। कितने ही संघर्षो के बीच वह स्वयं अपनी राह बनाता रहा है, अपनी रक्षा करता रहा है। लोकसाहित्य किसी से समझौता नहीं करता। जबजब धाराएँ रूक गयी हैं तबतब लोकसंस्कृति विद्रोह करके एक नयी धार बनाती आयी है और उस धार को क्षीण या समाप्तप्राय होने पर नयी धार से जोड़ती आयी है। अब यों कहा जाये कि लोकसंस्कृति को बचाने के लिए यन्त्र की

आवश्यकता पड़ेगी तो कुछ ही सीमा तक यह बात सही है। क्योंकि यन्त्र से जिसकी रक्षा होती है वह वस्तु निरी वस्तु बन जाती है, फिर उसकी आत्मा नहीं रह जाती और यह भी विचारणीय है कि रक्षा उसकी होती है जिसका प्रयोजन न रह गया हो। गीतों का प्रयोजन है और वे स्वयं जीवन का प्रयोजन हैं। हमारे समाज की विडम्बना यह है कि आज प्रवाह के बारे में जब सोचते हैं। तब गति के बारे में नहीं सोचते। स्थिति या ठहराव की बात सोचते हैं। इसी कारण हमारी अपनी कोई गति नहीं रह गयी है। हमारी गति दूसरे के द्वारा परिचालित गति है। हम दूसरों के ऊपर अवलम्बित हैं। यदि हम लोकसंस्कृति के उस सन्देश को ग्रहण कर सकते हैं, जो ऋतु के बदलाव को बाहर से अधिक भीतर पाता है और जो एक मनुष्य की सार्थकता दूसरे मनुष्य की पीड़ा पहचानने में समझता है तो हम मनुष्य बने रह सकते थे। काश हम लोकसंस्कृति को अपने जीवन की साँस के साथ जी सकते, हम उसकी प्रदर्शनी नहीं लगाते तो शायद तो बिखराव हमारे जीवन में आ रहा है, आस्था के स्तर पर, रिश्तों के स्तर पर और रोजमर्रा के व्यवहार के स्तर पर, वह न आता। कुछ भंयकर नशीली दवाओं का सेवन करके हमारी संस्कृति बाँझ हो गयी है, पर अभी रोग असाध्य नहीं हुआ है। अभी कुछ व्रत और तपस्या करने से तथा समूची सृष्टि से अपने को जोड़ने से इस बाँझपन का निराकरण सम्भव हो सकता है, लेकिन बहुत देर हो चुकी है। समय समाप्त होने का संकेत बारबार मिल रहा है। हम लोकसाहित्य के संकलन पर नहीं आकलन पर बल दें। आकलन का अर्थ होता है अपने को जोड़ना, केवल उसके टुकड़े को जोड़ना नहीं या केवल कुछ लयों या कल्पनाओं के टुकड़ों को जोड़ना नहीं।

लोकसाहित्य की उस लोकमंगल दृष्टि को वापस लाने की आज आवश्यकता है जो मानवीय सम्बन्धों में साकार आत्मीयता को विस्तार दे सके। उस अत्मीयता को व्यक्त

करने वाली भाषा के सहज संस्कार के लिए अपने देश और अपने क्षेत्र की वादिक परम्परा के साथ जुड़े बिना वह लोकमंगल की दृष्टि मिल नहीं सकती।

यह वाचिक परम्परा लोक जीवन के सुखदुख, उसके हर्ष, उसकी विवशता का सजीव चित्र प्रस्तुत करती है। उसके उच्छवास गीतों में फूट पड़ते हैं

ना विरहा के खेती भइया, ना विरहा के बनिजार
यही हिरदइया म उपजै विरहवा, हम गायी दिन रात।।

एक ओर सामाजिक यन्त्रणा और मानवीय सहनशक्ति तथा धैर्य की पराकष्ठा को यह साहित्य दर्शाता है तो दूसरी ओर शोषण के विरूद्ध आक्रोश भी व्यक्त करता है। लोककथाओं में यह आक्रोश अधिक मुखर होता है, जब असहाय और निर्बल पात्र बड़े से बड़े बलवान आततायी को मारकर उस पर विजय प्राप्त करता है। एक लोकगीत की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं जिसमें चकवे से बिछुड़ी चकवी को जब महारानी रूक्मिणी अपना मोतियों का हार ढूँढ़कर लाने के लिए कहती हैं, तब वह क्षुब्ध होकर कह उठती है

अगिया लगायों रानी हरवाँ, बजर परे मोतियाँ।
रानी सँझवे से बिछुरा चकउवा, हेरत नाहीं पायों।।

यह वाचिक परम्परा अपने युगानुकूल परिवर्तन के साथ लोक में प्रचलित रही है। उदाहरण के लिए सन्तान की मंगलकामना हेतु किया जाने वाल संकष्ट चौथ व्रत लिया जा सकता है। इसमें तिल और गुड़ का भेड़ा या बकरा बनाकर उसकी बलि दी जाती है। कोई, पुरूष पात्र ही इस आकृति की गर्दन काटता है। काटते समय बकरा या भेड़ा की तरह 'मेंमें' की आवाज करता है। इस अनुष्ठान से कई अर्थ द्योतित होते हैं। इतिहास में आदिम युग से बलिप्रथा के उदाहरण मिलते हैं। पहले नरबलि, फिर पशुबलि और फिर

खाद्यान्न तथा फल से बने प्रतीकों की बलि करने का प्रावधान हुआ। 'शकट' या संकष्ट व्रत में यही परम्परा प्रतीत होती है। 'शतपथ व्राम्मण' में उल्लेख है कि यज्ञ देवता का वास पहले गाय या बैल में, फिर अश्व में, उसके बाद अज या बकरे में और अन्त में पृथ्वी या अन्न में माना गया। 'शकटचौथ' में तिलगुड़ से बने भेड़ा या बकरे की बलि का उदाहरण इस क्रमिक परिवर्तन की ओर संकेत करता है।

एक अन्य विश्वास भी इसमें व्यक्त है कि वाचिक परम्परा मादा के वध का निषेध करती है और मातृसत्ता के द्वारा हिंसा करने का भी निषेध है। इसलिए बलि की आकृति भी पुरूष जीव की ही बनती है। व्रत स्त्री रखती है किन्तु प्रतीकात्मक बलि पुरूष के हाथों ही करायी जाती है। इसके पीछे मूल भाव यही है कि स्त्री जननी है, वंशवृद्धि और वंशरक्षा दोनों का दायित्व उस पर है। इस बलि के पीछे वंश के कल्याण का भाव भी है इसलिए किसी न किसी रूप में इसकी स्वीकृति परम्परा से रही है और आज भी प्रचलन में है। यह बलि असुरो के प्रतीक रूप में अभी भी प्रचलित है जैसे महिषासुरमर्दिनी महाकाली को महिष (भैंसा) की बलि दी जाती है। लोककथाओं में तालाब या पोखर खुदवाने पर उसमें पानी न आने पर राजा द्वारा अपने पुत्र, पौत्र की बलि देने से पोखर में जल भर जाने का उल्लेख मिलता है। राजा का अपने सर्वस्व, अपने प्रिय जन का उत्सर्ग लोकहित और त्याग की भावना से करना भारतीय परम्परा के निर्वहन के प्रति आदर भाव व्यक्त करने के लिए है। साथ ही आज बलि के प्रतीक स्वरूप नारियल, जायफल आदि की बलि देना समय के अनुसार निरन्तर सभ्यता के क्रमिक विकास की परम्परा का उद्घोष करता है। यह प्रकृति के साथ मानव के अविच्छिन्न सम्बन्ध की भारतीय चिन्तन की अवधारणा को भी पुष्ट करता है, जो चरअचर सम्पूर्ण सृष्टि में एक ही आत्मा का निवास मानती है।

लोकसाहित्य में आम, केला, नारियल, कद्दू, कुम्हड़ा आदि पुत्र माने गये हैं। और तुलसी, गाय आदि कन्या। एक विवाह गीत की पंक्तियाँ हैं

उमड़ि झुमड़ि बाबा तुलसी लगावैं अमवा लगावैं अकेल।
जेकरि तुलसी हो, ते लैं जइहैं, रहि जइहैं अमवाँ अकेल।।

लोकसाहित्य पारिवारिक सम्बन्धों को केवल मनुष्य जाति तक ही सीमित नहीं रखता। वहाँ पशु, पक्षी, पौधे पारिवारिक सम्बन्धों में बँधे हैं। बरगद बाबा हैं, नीम माँ है, पीपल वासुदेव हैं, कौवा कहीं मामा हैं तो कहीं सन्देशवाहक हैं, कोयल बेटी है, बदली और वायु सुखदुख का सन्देश देकर कभी प्रियप्रिया के पास जाते हैं। तो कभी बेटीबहन का सन्देश लेकर उनके मायके जाते हैं। तोता बेटी का वर खोजने जाता है

सावन सुगना मैं गुड़ घिउ पालेऊँ चइत चना केरि दालि रे।
अब सुगना तूँ भइला सजोगवा बेटी क वर हेरि लाव रे।।

इसी प्रकार बेटी के विवाह का निमन्त्रण लेकर कहीं भँवरा जाता है तो कहीं काली कोयल जाती है

अरेअरे कारे भँवरवा (या काली कोयलिया) करिया तोरि जतिया।
भँवरा मोरे घरे परल बियाह नेवत दई आवहु।।

लोकमन प्रकृति की चिन्ता करता है। वह नीम के पेड़ को न काटने की गुहार लगाता है क्योंकि नीम चिड़ियों का बसेरा है, आश्रय है। बेटियों को दुख न देने की बात करता है क्योंकि वे चिड़ियों की तरह भोली हैं और उनके जाने से माँ अकेली हो जाती है

निबिया के पेड़ जिनि काट्या ए बाबा, निबिया चिरैया बसेर।

बिटियन जिनि दुख दीह्या ए बाबा, बिटियै चिरैया की नायँ।।

लोकमन दिन डूबने के बाद फूलपत्ती तोड़ने का निषेध करता है, रात में कुएँ तालाब से जल लेने का निषेध करता है क्योंकि वे सभी सो रहे होते हैं। शाम को ताली बजाने का या शोर करने का निषेध करता है, क्योंकि चिड़ियाँ बसेरा ले रही होती हैं। वह किसी पक्षी का बसेरा उजाड़ना महापाप समझता है। एक गीत में कोयल की पीड़ा और बेटी की पीड़ा को एक करके दिखाया गया है

डारीडारी पसिया रे लसिया लगावै, पातेपाते कोइलरि लुकायँ।
यस उदबसिया रे पसिया बेटउवा, कौने वृन्दावन जावँ।।

आज प्रकृति व पर्यावरण की चिन्ता बड़े पैमाने पर की जा रही है। पर लोकगीतों की करूणा से जुड़े बिना यह चिन्ता केवल वैचारिक होकर रह जाएगी, यह स्वीकार करना पड़ेगा।

लोकगीतों में कोई भी वस्तु निर्जीव वस्तु नहीं है, कोई मनुष्य अकेला मनुष्य नहीं है। वह तमाम सम्बन्धों में बँधा हुआ एक व्यक्ति है। सम्बन्धों का यह संस्कार जीवन की गुणवत्ता की प्रतीति कराने में बहुत सहायता करता है। सम्बन्धों के जुड़ाव का यह भाव आज खोता जा रहा है। वाचिक परम्परा से कटने के कारण हम सम्बन्धों की ऊष्मा और अपनत्व से वंचित होते जा रहे हैं। पूरी प्रकृति के आवाहन और रिश्तों तथा समाज के हर वर्ग की साझेदारी के बिना कोई संस्कार या अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। यह सामूहिकता की भावना हमें लोकसंस्कृति ही देती है।

लोक विधा के क्षेत्र में ब्लादिमिर प्रॉप ने इसका सफल उपयोग किया। संरचनावादी पद्धति को लेकर किए गए अध्ययनों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है

कि 'यह वंश परम्परा, मिथक, कर्मकण्ड इत्यादि के अध्ययन का एक सफल माध्यम है। प्रतीकों की विभिन्न व्यवस्थाओं की सम्बद्धता तथा उनमें 'परावर्तन की अवधारणा की तलाश' में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। संरचनावाद ने 'प्रतीकित विचार के अध्ययन में इथनोग्राफिक सन्दर्भो के अत्यन्त सूक्ष्म तथ्यों की खोज करके महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हालांकि जॉन वेनसिना वगैरह का आरोप है कि यह सम्पूर्ण सांस्कृतिक सन्दर्भ को स्थापित करने में असफल रहा है। 'नीधम' जो लम्बे समय तक संरचनावाद का प्रचारक रहा, बाद में चलकर उसका कटु आलोचक बन गया। हालांकि इन बौद्धिकों के विचार का अध्ययन करने पर इनमें छिपा व्यक्तिगत पूर्वाग्रह भी दिखाई पड़ता है किन्तु इनकी आलोचना के अतिवाद को हटा भी दिया जाए तो संरचनावाद की झलक रही सीमाओं से स्वयं संरचनावादी भी मुकर नहीं सकता। यह इसलिए हुआ कि कुछ मानव वैज्ञानिक आज भी संरचनावाद का उपभोग सन्दर्भो को तजकर करते रहे हैं। इसके बावजूद भी संरचनावाद मिथक, कर्मकण्ड, धर्म, संस्कृति के अध्ययन का एक सक्षम उपादान तो है ही। हाँ इसे लोक संस्कृति एवं मानव विज्ञान के अध्ययन का 'शाश्वत उपादान' समझना गलत होगा। इसमें परिवर्तित सामाजिक चुनौतियों को ध्यान में रखकर परिवर्द्धन आवश्यक होगा। इसी तरह का एक प्रयोग फ्रेंच समाज वैज्ञानिक डॉन स्पर्बर ने किया है, उन्होंने अपने शोध कार्यो में संरचनावाद का एक विकसित एवं तार्किक स्वरूप निर्मित करने का प्रयास किया है। चॉमोस्की से प्रभावित स्पर्बर ने लेवीस्ट्रॉस के प्रतिदर्श में सुधार करते हुए विवाह व्यवस्था के सन्दर्भ में सामाजिक तंतु एवं प्रतीकात्मक चिन्हों में भेद किया है, जिसे लेवी स्टॉस ने अनदेखा कर दिया था। किन्तु जहाँ स्पर्बर लेवी स्ट्रॉस के संरचनावाद के वंश व्यवस्था की अवधारण पर आक्रमण करते हैं वहीं अतिवाद से प्रभावित लगते हैं। इस प्रकार संरचनावाद की व्याख्या, उसके मूल्यांकन एवं प्रयोग के सन्दर्भ में हमें सदैव सतर्कता बरतनी होगी।

भारत में लोक संस्कृति की व्याख्या के लिए 19वीं शताब्दी में विकसित राष्ट्रवादी प्राविधि का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। रवीन्द्रनाथ टैगोर, नन्द लाल बोस ने राष्ट्रवादी पद्धति के विकास में सक्रिय सहयोग दिया। राष्ट्रवादी पद्धति ने लोकायन को राष्ट्रीय धारा से तो जोड़ा किन्तु इससे बहुत कुछ छूट गया। इस 'छूटे हुए' को देखते हुए बंगाल के लोकविद गुरूशादत्त ने लोकायन के क्षेत्रीय पक्ष पर जोर दिया हालांकि उनका यह जोर बाद में चलकर लोकायन की क्षेत्रीय स्वायतत्ता की अवधारणा में तब्दील हो गया।

भारत में लोक संस्कृति के अध्ययन का सिद्धान्त विकसित करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील योगदान आनन्द के0 कुमारस्वामी का रहा, जिन्होंने लोक संस्कृति को सदैव परम्परा से जोड़ कर देखा। उन्होंने 1936 में अपने एक प्रसिद्ध लेख 'द नेचर आफ फाकलोर एन्ड पापुलर आर्ट' में स्पष्ट रूप से रेखांकित किया कि सभी पारम्परिक कलाएँ लोक कलाएँ हैं, क्योंकि ये सर्वसम्मत एवं निर्विवादित जन की रचना है। उन्होंने लोकायन के अध्ययन के लिए 'देसी' प्राविधि के विकास के लिए सैद्धान्तिक जमीन दी। बाद में चलकर भारत के लोक संस्कृति के अध्ययन के लिए प्राविधि विकसित करने का काम एवं दार्शनिक प्रश्नों से टकराने का काम न के बराबर हुआ। इसका हमारी बौद्धिकता पर सर्वग्रासी प्रभाव पड़ा जिसने हमें निर्मित पद्धतियों का अन्धानुकरण के लिए बाध्य किया।

मानव की उपलब्धियों में गीत का महत्वपूर्ण स्थान है। सम्भवतः आदिम मानव ने वाणी का प्रथम दर्शन 'गीत' के रूप में ही किया था। जितना गीत मानव के स्वाभाविक भावनात्मक स्पंदनों से सम्बद्ध है उतना वाणी का कोई और रूप नहीं। यह सभी जानते हैं कि मनुष्य या प्राणी पहले भावुक तत्वों से युक्त होता है। इन्हें आवेग या इमोसन्स कहा जाता है। आवेग एक सकल शरीरी प्रक्रिया है। शरीर का प्रत्येक अवयव ही आवेग से आक्रान्त होकर किसी न किसी प्रकार की गत्यात्मकता से युक्त हो जाता है। इसी के

आधीन कण्ठ से स्वर फूटता है। यह आवेग लययुक्त होता है। ताल उसकी लय को हृदय और प्राण से मिलती है। अतः मानव का परिचय पहले एक लय और ताल युक्त स्वर से होता है। स्वर उसे प्रिय लगता है और उसके दुख तथा सुख, संकोच तथा विस्तार, रक्षाभाव तथा प्रसारभाव भय तथा राग से संबद्ध होकर वह उसके सहजात की भाँति उद्भूत होता है, और इनकी मात्रा के अनुसार उस लय ताल में आरोहणअवरोहण आता है, साथ ही उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार में भी अन्तर हो जाता है। किसी स्वर में कंप होगा, किसी में भारीपन, किसी मे चांचल्य, किसी में संवृत स्वर, किसी में विवृत स्वर, आदि। इस प्रकृतस्वरूप से यही विदित होता है कि 'स्वर' का जन्म पहले हुआ, उसके साथ लयताल संभार लगे हुए थे। बाद में उसमें 'शब्द' का प्रवेश हुआ। शब्द का जन्म स्वर से भिन्न उपादानों और आवश्यकताओं के बीच हुआ। मनुष्य में विचारण अथवा सार्थक अभिव्यक्ति के विकास से बाद में 'शब्द' का महत्व बढ़ गया। आज के लोकगीत मे स्वर और शब्द परस्पर गुँथे रहते हैं, और इस प्रक्रिया में अवसरानुकूल अथवा प्रकृत्यानुकूल कहीं स्वर की प्रधानता रहती है, कहीं शब्द की। तभी ऐसे प्रसंग उपस्थित होते हैं जब यह प्रश्न पैदा होता है कि लोकगीत स्वरप्रधान होता है या शब्द प्रधान। तभी कैन्नेथ रिचमण्ड को यह लिखना पड़ाः

शब्द या स्वर

'सभी लोकगीतों में सामान्यतः यह बात मिलती है कि शब्द गौण होते हैं लय से, और इसी कारण कभीकभी यह कहा जाता है कि लय ही है जिसका सर्वापेक्षा अधिक महत्व था। यह विश्वास सत्य से बहुत दूर है। सच्चाई यह है कि कण्ठ से कण्ठ पर उतरते हुए शब्दों ने क्रमशः लघु विकारों और संशोधनों को झेला है। संगीत अधिक यथावत रूप में स्मृत रहा है क्योंकि लोकनायक के लिए गीत का सम्पूर्ण अर्थ आवेग

संपृक्त (Emotional) होता है उतना नैगमिक (logical) नहीं ।" [पोइट्री एण्ड द पीपिल, पृ0 184]

हमने ऊपर स्वर के जन्म के सम्बन्ध में जो विचार दिये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि स्वर का सम्बन्ध 'आवेग' से है। उनमें जन्य जनक भाव भी माना जा सकता है। और उससे भी अधिक उन्हें सहजात कहा जा सकता है। एक के साथ दूसरा स्वयं ही प्रस्तुत होता है। अतः ऐसे अवसरों पर जिन पर कि आवेग प्रबल होता है लोक गीतों में स्वर की प्रधानता हो जाती है। यहाँ तक कि कहीं तो शब्दक्रम बिल्कुल ही लोप हो जाता है, और स्वरसंगति ही रह जाती है। इसी प्रकार कुछ जाति की प्रकृति मानवविकास की विशेष अवस्था में होने के कारण आवेग प्रधान रहती है। ऐसे मानव समुदायों में भी स्वर की प्रधानता रहती है। अतः सीधे शब्दों में कहा जा सकता है कि जहाँ जितना आवेघ का पूर होगा, वहाँ उतना ही स्वर प्रधान हो जायेगा। अधिक विकसित जातियों में जिनकी सभ्यता अथवा संस्कृति एक विशिष्ट उत्कर्ष ग्रहण कर चुकी होती है आवेग तथा अर्थ, स्वर तथा शब्द गुँथ जाते हैं। तब उन्हें विशेषरूप से अलगअलग करके नहीं देखा जा सकता। हाँ, यह अनुभव किया जा सकता है कि आवेग की मात्रा के उत्कर्षित होने पर स्वर का गौरव बढ़ा है, और सामान्य स्थिति में अर्थगौरव भी स्वरगौरव के साथ रहा है।

गीतों के दो रूप

भारत में गीतों के दो रूप मिलते हैंः एक स्फुट, दूसरा प्रबन्धमय। सामान्यतः स्फुट अथवा मुक्तक रूपों में स्वरगौरव की कुछ विशेषता रहती हैं। किन्तु प्रबन्धमय रूपों में शब्दगौरव बढ़ जाता है। मुक्तकों अथवा स्फुट गीतों में अर्थ अथवा शब्द, गीत की

अथवा स्वरगौरव की रीढ़ का काम करता है, और प्रबन्धगीतों में स्वर शब्दों को प्राण प्रदान करते हैं।

लोकगीत की परिभाषा

ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'लोकगीत' क्या है? सामान्यतः जिसे गीत कहते हैं उससे इसमें क्या भिन्नता है। संगीत, गीत, तथा लोकगीत में क्या भेद है?

लोकगीत की परिभाषा अत्यन्त संक्षेप में यह की जा सकती है, 'वह गीत जो लोक मानस की अभिव्यक्ति हो, अथवा जिसमें लोकमानसभास भी हो लोकगीत के अन्तर्गत आयेगा।'

'लोकमानस' की व्याख्या पहले की जा चुकी है, उसके लक्षणों का भी प्रतिपादन वहाँ विस्तारपूर्वक हो चुका है, फिर भी लोकगीत की दृष्टि से उस अभिव्यक्ति की कुछ परिणतियों पर यहाँ प्रकाश डालना समीचीन होगा।

लोकगीतों के शब्दों में लोकमानसपरक अथवा आदिम प्रवृत्ति के जैसा एक प्रभाव होता है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, केवल जिसे अनुभव किया जा सकता है। उसमें आदिम मानवीय भावना के उत्तराधिकरण का एक रहस्य भिदा रहता है। उसमें जैसे एक टोना रहता है। लोकगीत जैसे एक 'दैवी वाक्य' है, जिसका न कोई निर्माता है न स्वरसंधाता। वह जैसे मानव समुदाय में सहज ही स्वयं ही उद्गरित हो उठा है, और बिना प्रयास के सहज कण्ठ से कण्ठ पर उतरती हुई अपनी परम्परा स्थापित करता रहा है। सामाजिक समुदायी जीवन से सम्बद्ध रहता है, यह भूमिपुत्र है, और निर्वेयक्तिक है, वह

अपनी विकास परम्परा में देशकाल से प्रभावित हो, उसके तत्वों को ग्रहण करता हुआ, फिर प्रवृत्तितः उन देशकालों के प्रभावों का संक्रमण करता हुआ, उनकी उपेक्षा करता
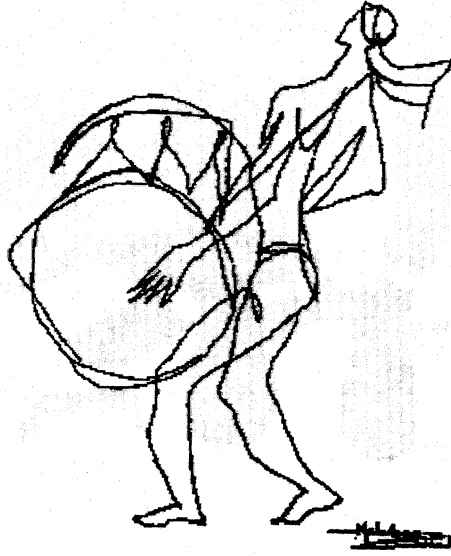
शोध प्रक्रिया एवम् सर्वेक्षण

भारतीय संस्कृति के मूल में निहित है कलाओं की ऊर्ध्वगामी संचेतना, जो अविरल है, अनन्त है, शाश्वत-प्राणवान है। कलाओं की अवधारणा हमारी संस्कृति का मूल है और लोक कलाएँ हमारी आस्था का साक्ष्य हैं। कलाएँ, जिनके बिना भारतीयता की पहचान नहीं की जा सकती। मानवीय संवेदनाओं और जीवन-मूल्यों की माप "लोक-प्रतीति" में ही सम्भव है।

लोक-कलाएँ जीवन से निकली, जीवन से जुड़ी और जीवन पर्यन्त चलने वाली ऐसी धरोहर है जो संस्कृति परिवर्तन के बाद भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आने वाली अपरिवर्तनशील आस्था है। वर्तमान आधुनिक चित्रकारों या शहरी वातावरण में सांस लेते

लोगों के लिए ये भले ही सजावट की वस्तु हों या संग्रहालयों की, लेकिन दूर दराज के आदिम ग्रामीण इलाकों में इनका पालन यथावत ही है। वहाँ ये आज भी अपने प्राच्य अर्थों में पोषित हैं, पुष्पित है और पल्लवित है।

लोक कला हमारे जीवन का एक अविच्छिन्न अंग है। मानव जीवन के साथ उसका जन्म हुआऔर मानवता के विकास के साथ ही वह आगे बढ़ी। अतीत के सभी युगों पर उसके अस्तित्व की छाप विभिन्न रूपों मे बनी रही। वह हमारे प्रतिदिन के जीवन में विभिन्न रूपों में गुंथी हुई है। लोक कला की ऐतिहासिक परम्परा का अपना अलग स्वरूप है, लोक कला की क्रमबद्धता तो बहुत प्राचीन है। इसका इतिहास कहीं लिखा नहीं गया, न ही किसी ने लिखना चाहा, पर जाने-अनजाने दादी माँ के काँपते हाथों से उनके पोपले मुख से बहू-बेटियाँ सुनती और गुनती रहीं, उन्होंने भी पढ़ा नहीं था, केवल सुना था, सीखा था। यही तो इसकी क्रमबद्धता है, यही इसका इतिहास है। लोक चित्रकला एक ऐसी परम्परागत कला के रूप में स्थित है, जिसकी जड़े हमारी संस्कृति के साथ आरम्भ से जुड़ी हैं। जिसे धर्म परम्परा, तीज-त्योहार आदि के माध्यम से इसके विभिन्न स्वरूप, समय-समय पर सामने आते रहते हैं। भारतीय जीवन में धर्म की प्रधानता है। उसमें केवल भावना का ही अंकन है। इसके लिए किसी विशेष दक्षता की आवश्यकता नहीं होती, प्राचीन काल में इस प्रकार की कला लोक समाज में सीमित थी अतः घरेलू कला के रूप में इसका अस्तित्व बना रहा।

लोककला का अभ्युदय साहित्य के साथ ही माना गया है वैदिक युग में दो प्रकार की भाषा मानी गयी है। मुख्यतः संस्कृत, जो पढ़े-लिखों की थी तथा लोक-भाषा संस्कृत की भाँति लोकबोलियाँ भी बड़े वेग से अनेक शाखा-प्रशाखाओं में पल्लवित होकर निरन्तर आगे बढ़ गयीं और साहित्य की भाषा-संस्कृति ने हमारे वाङमय को जितना दिया, इन लोक बोलियों की देन उससे किसी भी अंश में कम नहीं रही। हमारे लोक मानस के

बीच मौखिक रूप से सुरक्षित यह लोक-साहित्य कितना व्यापक एवं वृहद है। इसके प्रमाण हमें मिल रहे हैं, जबकि हम उसके अनुसंधान-अन्वेषण में अग्रसर है।

ऋग्वेद में लोक शब्द का प्रयोग स्थान और भवन के अर्थ में प्राप्त होता है, वेद पार्थिव और दिव्य दो प्रकार के लोक की स्थिति व्यक्त करते हैं। वेद और लोक के स्वतंत्र महत्व को क्रमशः स्वीकार किया गया, किन्तु आज लोक बेहतर संस्कृति के संकुचित अर्थ से ऊपर उठ चुका है। उसकी भावना वैदिक और अवैदिक दोनों वर्गो के सहज रूप से छूने लगी है। यह परम्परा की अनुभूति की संवेदना पूर्ण अभिव्यक्ति का सतत-संवाहक है। उसके पास अपने शब्द, भाषा और लोक ग्राही शैली है। जीवन से सम्बन्धित सभी उपकरणों को लिए हुए उसका अपना एक सामूहिक व्यक्तित्व है।

मानवशास्त्रियों की दृष्टि में लोककला "बीते युग" से सम्बन्धित है। यह सत्य है कि इसके सुन्दर उदाहरण प्रागैतिहासिक युग में प्राप्त होते हैं और निरन्तर उस समय तक प्राप्त होते रहते हैं, जब तक कि हाथों द्वारा बनी वस्तुओं का स्थान मशीनों ने नहीं ले लिया। आज भी जनसाधारण की यह कला अपनी विशिष्टताओं के कारण ग्राम, नगर, महानगरों के जनों में ग्राह्य है। इसलिए लोककला की प्रतिष्ठा को बीतेकाल से जोड़ देना बाल-सुलभ-भ्रान्ति है।

लोककला, बचपना और मासूमियत का समन्वय है। ऐसी विचार-धारा रखने वाले जान -बूझकर या अनजाने में इस ओर ध्यान नहीं देते कि आखिर इसके संकेतों का वास्तविक अर्थ क्या है?

"लोककला" रूखी, बेढंगी और बर्बरतापूर्ण है- ये विचार निश्चित ही उन बुजुर्ग लोगों के लिए तथ्यपूर्ण हो सकते हैं जो आम जनता की गरीब पिछड़ी जातियों या देशों

की दशा से लाभ उठाते हैं। वे यह स्वीकार करना नहीं चाहते कि जनसाधारण सुन्दर, कोमल और गम्भीर कला के योग्य है।

लोक कला निरन्तर प्रगतिशील और परिवर्तनशील रही है। यह गहरे मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण, अति संवेदनशील, जीवन के उत्थान के लिए आनन्ददायी, सूक्ष्म और असरदार खूबियों से परिपूर्ण है।

इस प्रकार लोक कला मानव की सहचरी के रूप में सदा उसके साथ रही है। इसलिए इसका जन्म ही मानव जीवन के साथ माना जाता है। लोककला जन-साधारण की सहज अभिव्यक्ति का ही एक स्वरूप है। यह उसकी सौन्दर्यानुभूति एवं उसके घर-आंगन की मांगलिक अभिलाषा व पारंपरिक सुख-समृद्धि के प्रतीक रूप में बनती चली आयी है। प्रागैतिहासिक चित्रों में अनेक ऐसे नमूने हैं, जिन्हें हम लोक कला की संज्ञा दे सकते हैं। उसी पृष्ठभूमि में यदि सिन्धु घाटी की सभ्यता में मिले मिट्टी के बर्तनों पर उत्कीर्ण लोक चित्रों के नमूनों को भी देखें तो एक लोक परम्परा बनती नजर आती है।

मोहन जोदड़ों और हड़प्पा के उत्खनन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतवासी अत्यन्त कला-कुशल थे। अतः लोक कला को हम वैदिक काल से लेकर वर्तमान युग तक की सांस्कृतिक-भावना, धारणा, परम्परा, आस्था, क्रमबद्ध रूप से लोक कला के अन्र्त गत पाते हैं। लोक कला का अभ्युदय साहित्य, कला एवं अन्य शिल्पों के साथ माना गया है।

प्रत्येक कला अपने दो रूपों में मिलती है। कला के अन्तर्गत संगीत, कला, मूर्ति कला, काव्य कला व वास्तु कला आती है। दूसरी ओर व्यावहारिक रूप में समाज के साथ लोकगीत, लोकबोली, लोक कहानी, लोकवार्ता, लोक-कला की परम्परा प्राचीन काल से व्याप्त मिलती है। भारतीय कला की जो थाती जो आज हमें उपलब्ध है, उसका एक

रूप तो शास्त्रीय रहा जिसके निर्माता या तो राज्याश्रित पेशेवर कलाकार रहे या स्वतंत्र रूप से कला की साधना में अभिरत रहते हुए आगे बढ़ें। इस शास्त्रीय कला के दोनों रूप पहले तो अजन्ता, बाघ आदि के भित्ति चित्रों में रूपायित हुए और बाद में उनका पूर्ण विकास मुगल, राजपूत तथा पहाड़ी आदि चित्र शैलियों के रूप में हुआ। कला का दूसरा रूप अपने इतिहास और अपनी ख्याति की अपेक्षा किये बिना हमारे आंगनों के निराले स्वछन्द वातावरण में पल कर आगे बढ़ा। भारत की कोटि-कोटि जनता के जीवन में एक प्राण होकर यह लोककला न जाने अतीत की किस स्वर्णिम बेला से हमारे उल्लास के सम्बन्धों से जुड़कर हमसे बंधी हुई हमारे साथ चली आ रही है। बिना किसी अवलम्ब, आश्रय, प्रोत्साहन और प्रलोभन के स्वतंत्र, स्वछन्द एवं सौम्य गति से निरन्तर आगे बढ़ती रही। हमारे ममतामय तथा मधुर घरेलू सम्बन्धों की भाँति उसकी अटूट एकता हमारे साथ आरम्भ से ही बनी रही।

ईसा की कुछ शताब्दियों पहले के भारत में नाना प्रकार की कल्पवल्लियों का उल्लेख पाया जाता है। घरो की स्वच्छ धवल भित्तियों पर सूक्ष्म रेखा-विशारद कलाकार नाना भाव-रसों से युक्त इन कल्पवल्लियों का अंकन किया करते थे। लोककला की प्राचीनता के दूसरे प्रमाण धूलिचित्रों में भी देखने को मिलते हैं जिनका निर्माण मौर्य युग (300 ई0 पूर्व) में व्यापक रूप से होता रहा। लोककला की प्राचीन परम्परा की उपलब्धि शुंग कालीन साँची के तोरणों में अंकित लोक चित्रों में होती है, जो कि जातक कथाओं के आधार पर बनाये गये हैं। साँची की कला को लोकप्रियता प्राप्त होने का यही कारण था।

लोककला, लोक मानस से प्रेरणा और पोषण पाती है एवं उसी को प्रतिबिम्बित करती है। जनसाधारण के जीवन का स्वभाव अटल और उसकी रूचि संस्कार शून्य होते हुए भी सहज और सुभग होती है। लोककला के शाश्वत स्वर लोक कला की यक्ष और

ओजमय रेखाओं, सिद्धान्तों व सम्प्रदायों के झमेले से उन्मुक्त कल्पना विस्तार तथा चारू वर्ण-नियोजन में अभिव्यक्त होते हैं। हृदय की सरलता, सुबोधता, लोककला के प्राण हैं। लोक कलाकार किसी चित्रशाला में जाकर शिक्षा नहीं प्राप्त करता। किसी दुरूह सिद्धान्त व शैली की जटिलता में नहीं पड़ता, नये सृजन की लोकेष्णा से दूर रहता है। लोक कलाकार कभी निर्भर नहीं रहा। सर्वमान्य रंग-रेखाओं की साध अपने सीधे-साधे लोगों के लिए करता है।

जब कभी कला समीक्षकों की खीझ देखने में आयी है तो कवि भवभूति की यह उक्ति बड़ी सटीक लगती हैं- "जो लोग हमारी अवज्ञा करते हैं वे जान लें कि यह रचना हम उन्हें प्रसन्न करने के लिए नहीं रच रहे हैं।लोक कलाकार समीक्षक की हैसियत और अस्तित्व को ही नही स्वीकारता है, लोक कलाकार तो बिना किसी स्वार्थ के स्वान्त-सुखाय साधना करता है।"

आज भी हम यदि लोक कला और लोक-नाट्य का समग्र रूप से दर्शन चाहें तो वह उन क्षेत्रों -अंचलों में ही अपने पूर्ण विकसित रूप में उपलब्ध होती हैं जो आधुनिक सभ्यता से कोसों दूर हैं।

ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में नृत्य और संगीत की भावभूमि में अन्तर है। परन्तु ग्रामीण और आदिवासी के दैनिक अनुभवों में लोक कला निरूपित होती है और यह ग्राम्य जीवन का अनिवार्य अंग है। इसका आकर्षण इसके स्वाभाविक सौन्दर्य में है। आदिवासियों के अनुसार जो जाति नाचती है वह मरती नहीं है। गाँव के लोग अपने आस-पास के वातावरण से अत्यधिक प्रभावित होते हैं और उनके गीतों में भी उनके आस-पास के परिवर्तित वातावरण की झलक मिलती है। प्रायः उनके गीतों में सौम्य, हास्य और दार्शनिकता का आभास भी मिलता है। रंग-मंच पर प्रदर्शन और शहरी

वातावरण के प्रभाव से लोक-नर्तक कुछ हिचक अनुभव करते हैं और इससे यह शंका होने लगी है कि यदि उन्होंने अपनी स्थानीय विशेषता छोड़ दी तो वे अपनी चारित्रिक विशिष्टता और अपनी स्वाभाविकता काफी हद तक खो देंगे। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि इन वाह्य प्रभावों से केवल मंडल और प्रतियोगिता की भावना न बढ़े, बल्कि नवसृजन को प्रेरणा मिले।

इस प्रकार हम देखते है कि लोक कला का सबसे बड़ा उद्देश्य जीवन में यथार्थ को स्वीकृति देना है। इसमें जीवन के विभिन्न मूल्यों को प्रतीकों में छिपा लिया जाता है। जिसका निरन्तर प्रयोग होता रहता है। वास्तव में लोक कला समाज के दैनिक जीवन के कार्य -कलापों को सौन्दर्य मय बनाने का प्रयत्न है। लोक कला के माध्यम की अपनी परम्परा होती है। ये माध्यम जीवन तथा वस्तु के अधिक निकट होते हैं।

हम देखते हैं कि आदिम लोक कला बाल कला के सन्निकट है। लोक कलाकार अपने चित्रण में वही आनन्द पाता है जो एक बाल कलाकार अपनी कला अभिव्यक्ति में पाया करता है। अपने प्रारम्भिक अवस्था में प्रागैतिहासिक काल के चित्र एवं बाल कलाकार के चित्र प्रायः एक जैसे हुआ करते हैं। क्योंकि आदि मानव अपने भावों को व्यक्त करना चाहता था। इसलिए उसने पहली रेखा खींची होगी। परन्तु आदि मानव ने जो चित्र एक रेखा में लिखे (बनाये) यही उसकी भाषा होती थी। विभिन्न रेखायें जो किसी आकृति द्वारा भावों को व्यक्त करती हैं। **ग्रेगर पोलसन** ने अपनी **"द क्रियेटिव एलीमेन्ट इन आर्ट"** में यही बताया है कि दोनों कलाओं के निर्माण की एक पहचान है, वह है अपने भावों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने की इच्छा तथा अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करने का आनन्द।

ज्यों-ज्यों बाल कलाकार की अवस्था बढ़ती है, चित्रण की शैली और अभिव्यक्ति के अन्य उपादान भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। बाल चित्रकार पर समय का कोई प्रभाव नही पड़ता। किन्तु लोक कलाकार पर उसकी आयु व वातावरण का अन्तर अवश्य पड़ता है। दोनों कलाकारों के अनुभवजन्य बिम्व दृष्टिगोचर होते हैं।

लोक कला का सबसे बड़ा उद्देश्य है व्यक्ति के द्वारा जीवन में यथार्थ को स्वीकृति देना है। लोक कलाओं के अतिरिक्त कला का कोई रूप भावनाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं रखता। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि लोक कला के माध्यम से उन दमित तथा अपूर्ण इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है जिनका संघर्ष समाज से चलता रहता है। लोक कला में अमूर्त, दुरूह रूप नहीं मिलता वरन् सरल और सहज रूप मिलता है जो शीघ्र ही समझ में आ जाता है यह प्रत्यक्ष रूप में जीवन को समझाती है न कि अप्रत्यक्ष रूप में। इसके द्वारा मनुष्य के रहन -सहन, रीति-रिवाज, रंग-रूचि आदि सभी का परिचय मिल जाता है।

इन चित्रों के पीछे मार्गस्य की भावना रहती है। लोक साहित्य, लोक नृत्य, लोक नाट्य, लोक शिल्प, लोक कला सभी ग्रामीण जीवन के द्योतक हैं जिनमें बड़ी सरलता व आह्लाद दृष्टिगोचर होता है। वह सीधे-सीधे अपने मनोभावों को बिना किसी सामाजिक मर्यादा की चिन्ता किये अभिव्यक्त कर देते हैं। जो अभिजात्य घुटन से दूर एक खुलेपन का आनन्द देता है। लोक कला एक स्थानीय कला है। भारत देश में भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियाँ बोली जाती हैं। लोक जीवन पर धर्म का प्रभाव पड़ता है। वर्तमान युग में जबकि विभिन्न धर्म अपनी अलग पहचान बनाने को उत्सुक हैं, वही लोक कला ग्रामीण जीवन को अपनी पृथक मान्यताओं से प्रभावित कर रही है।

लोक कला को जीवंत बनाये रखने में नारी का बहुत बड़ा योगदान है क्योंकि पुरूष के घर से निकलने के पश्चात नारी को घर में बैठकर उसकी सुरक्षा के लिए देवी-देवता मनाती थीं। उसके भावुक हृदय में ही कल्पनाएँ उठती थीं। उसी को अभिव्यक्ति की आवश्यकता पड़ी। इसी से लोक कला नारी जीवन में व्याप्त हो गई। लोक कला मानव-संस्कृति का मूल रूप है और वही नारी घरेलू जीवन की आत्मा। इसी से दोनों का इतना घनिष्ठ संबन्ध है नारी का सम्पूर्ण जीवन कलात्मक होता है।

हमारी लोक कला की उक्त समृद्धि शंख, स्वास्ति, आभूषण, गृह-कुण्डलियाँ, चन्द्र, कलश आदि मोहक आकृतियों में भी देखी जा सकती है। मांडना, अल्पना, चौक पूरना, रंगोली, ऐपन, छापे, कोमल और साँझी आदि की विभिन्न लोक शैलियाँ लोक कला की परम्परा को आज भी अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। आँगन या धरती पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को चौक या रंगोली (रंगवाली) और दीवारों तथा घरों पर अंकित किये जाने का प्रयत्न बहुत पुराने समय से चला आ रहा है। इन थापों और चौकों के द्वारा भारत की विभिन्न जातियाँ तथा जनपदों से सांस्कृतिक विचारों का भी दर्शन होता है।

इन सबसे ऊपर यह है कि नाम हीनता लोक कला की अन्यतम विशेषता है। उस पर किसी व्यक्ति विशेष अथवा संस्था विशेष की छाप नहीं होती है यह तो कला दृष्टि से सम्पन्न सामान्य जन की दिनचर्या का अंग है। कालहीन होना लोक कला के आकर्षण का प्रमुख कारण है, जिसने इसकी सार्थकता और चमत्कार को अक्षुण्ण बनाये रखा है। मनुष्य के दैनन्दिन जीवन से इसका गहरा सम्बन्ध है। एक सर्वव्यापी आकर्षण लोक कला के साथ हर समय जुड़ा हुआ है।

लोक कला न तो प्रकृति की नकल करती हैं और न उसका यथार्थ रूप ही सामने रखती हैं। धरातल में यह सामान्य सर्जक की कल्पना को अभिव्यक्ति के स्तर पर

प्रतिबिम्वित करती है। लोक कला ने समयान्तर से इतना विस्तार पाया है कि वह आज घर-आंगन तक ही सीमित नहीं हैं। अपितु पूजा गृहों, भित्ति चित्रों एवं वस्त्रों तक पहुँच गई है।

लोक कला का प्रारूप आलंकारिक है, जिसमें माँ बहनें पीढ़ी-दर पीढ़ी विभिन्न प्रकार अवसरों पर अंकित किये जाने वाले स्वरूपों को अपने जीवन में उतारती जाती हैं। जीवन का प्रत्येक कार्य पूजा पाठ एवं संस्कार मान्यताओं के अनुरूप में होकर कला में ऐसा ढाल दिया जाता है और जीवन के स्वाभाविक रूप से जुड़ जाता है। इनके प्रति प्रत्येक नर-नारी व बच्चे इतने जागरूक होते हैं कि उनके सम्पन्न होने पर ही कोई कार्य किया जाता है।

लोक कला अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। जिसको मानव सरलतम रूप में व्यक्त कर लेता है। लोक कला की यह पुरातन थाती भारत के विभिन्न जनपदों एवं जातियों में विभिन्न रूपों में सम्पूजित एवं सम्मानित होकर आज भी हमारे लोक-जीवन का अंग बनी हुई है।

भारत के प्रत्येक क्षेत्र के जन-जीवन में यह एक जाति बोधक शब्द की भाँति प्रतिष्ठित हो गया है जिसके अतिरिक्त पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंख्य समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के सम्बन्ध में भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उनके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषय में जादू-टोनों, सम्मोहन वशीकरण, ताबीज, विश्वास, भाग्य, शगुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ जीवन के रीति-रिवाजों तथा अनुष्ठान इसमें सम्मिलित किया जा सकता है। इसके विषय धर्म,

माधुर्य, नवदान लोक -कहानियाँ साके (पैसे) गीत, किंवदन्तियाँ, पहेलियाँ आदि संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है, वह सभी इसके क्षेत्र में है। यह किसान के हल की आकृति नहीं जो लोक वार्ताकार को अपनी ओर आकर्षित करती है। किन्तु वे उपचार अथवा अनुष्ठान हैं। जो किसान हल को भूमि जोतने के काम में लेने के समय करता है। पुत्र अथवा निवास का निर्माण नहीं वरन् वह जो बलि जो उसके बनाते समय दी जाती है। जाल अथवा वंशी की बनावट नहीं वरन् वह टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है और उसको उपयोग में लाने वालों के विश्वास व लोक वार्ता वस्तुतः आदिम-मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। यह चाहे दर्शन, धर्म ,विज्ञान, औषधि के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में अथवा विशेषतः इतिहास काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में।

लोक कला का अर्थ - "अनगढ़ सौन्दर्य की अभिव्यक्ति" लोक कला एक आदिम अनगढ़ सौन्दर्य है, जिसमें कुछ न होकर भी भावनाओं की अति सहज, सुलभ अभिव्यक्ति है। जो कला धारा की तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी से सभी का ज्ञान मोहती चली आई हैं। यह अप्रशिक्षित कलाकारों द्वारा उकेरी जाने वाली कला है। जहाँ तक लोक कलाओं का प्रश्न है, वे नारी की सहज आस्था से उत्प्रेरित हैं। उसकी निष्ठा की सतल गहराई से भी उनकी सृष्टि हुई है। नारी द्वारा उकेरी गई प्रायः सभी हस्त निर्मित वस्तुओं एवं धार्मिक अनुष्ठानों में जिस कलामय सीधी-सादी कला का प्रकटीकरण होता है उसमें सूरज, चाँद, तारा, मछली, घोड़ा, मोर, बैल आड़ी तिरछी रेखाएँ, लहरिया, त्रिभुज व वर्गो से बनी ज्यामितीय मानवाकृतियाँ, घोड़े, हाथी, तलवार, भाला आदि प्रचलित रूपों को संयोजित किया जाता है- संयोजन किया जाता है कहानी के अनुसार सभी अलंकरणों में सरलता, सुलभता, अनुभूति, चेष्टा आदि मानवीय गुण हैं। सभी लोक जीवन को संवारने-सजाने हेतु उसकी उमंगों का प्रतीक है।

इस प्रकार अपने सहज कला बोध और सहज चैतन्य के आह्लादकारी प्रेरक तथ्य ज्यों-ज्यों उनके मंगलमय जीवन में संश्लिष्ट होते गये, त्यों-त्यों अनुभूत रंगीन सपनों में रमता हुआ उनका मन कला-सृजन में सुख मानने लगा। परिणाम स्वरूप कितने ही उत्सव, पर्व, होली, दीवाली, दशहरा, श्रावणी, नागपंचमी, शीतला, अहोई, करवाचौथ, गणेशोत्सव, गोवर्धन पूजा, जन्माष्टमी, रामनवमी, सांझी का त्यौहार और शादी-ब्याह, उपनयन-संस्कार, पवित्र व्रत-उपवासों पर पौराणिक नाटकीय दृश्यों को भावपूर्ण चित्रों के रूप में दीवारों पर अंकित करने के प्रथा उन्हीं के दिमाग की उपज है। पृथ्वी पर, घर के आंगन, द्वार एवं गुम्बदों के इर्द-गिर्द मांगलिक चित्र, फूल पत्तियाँ और रंग-बिरंगी आकृतियाँ चित्रित की जाती हैं।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति और लोक-संस्कृति तथा लोककला नारी प्राण स्पंदन की स्वतः प्रतीक है। जिसमें उसके अन्तःस्वरों की सिहरन सुनाई पड़ती है। प्राचीन आदर्शों, परम्पराओं एवं संस्कारों के प्रति गहरी आस्था एवं अटूट निष्ठा लिये वह मुख्यतः अपने घरेलू एवं व्यावहारिक जीवन में उसके चिरगत्यात्मक प्रवाहमान क्षणों को पकड़ने का नित्य प्रयास करती रही। उसी के भविष्य की रम्य कल्पना और अतीत संस्कारों के मोहक आकर्षण पर उसकी सूदृढ़ नींव रखी गई। न सिर्फ स्वयं स्फूर्त प्रतिभा से प्रचलित परिपाटियों में समय -समय पर विकास को नूतन उपलब्धियों को वह मुखर करती रही। अपितु अपनी तत्वपरक दृष्टि से अनेक नवरंग व अंतरंग रूप को विभिन्न प्रक्रियाओं का विश्लेषण भी उसने प्रस्तुत किया। किसी भी देश की संस्कृति में जब बहुमुखी धाराओं का उद्रेक होता है अर्थात् प्रतिगामी पहलू द्वन्द-संघर्ष को जन्म देते हैं तो उसकी परिणति में उल्लास और विक्षेप उत्पन्न होते हैं निर्विवाद है कि परस्पर भिन्न एवं असम्बद्ध प्रतीत होने वाली ऐसी ही समस्याओं का सामंजस्य नारी अपने हाथों में थामें रही।

सब कलाओं में लोक कलाएँ आजकल बड़ी चर्चा का विषय बनी हुई हैं। कोई भी सभा, समारोह, उत्सव हो उसका लोककलात्मक रूप-रंग आवश्यक हो जाता है। बोल-चाल, पहनावा, खानपान, लेखन, सज्जा सबके सब लोकपन से प्रगाढ़ हो रहे हैं। लोकमान, लोकरंग, लोकमानस, लोकचर्चा, लोकार्पण, लोकोत्सव, लोकाभिनंदन, लोकधन, लोकमन, लोकनीति, लोकगायक, लोककला, लोकशिक्षण, लोकगीत, लोक संस्कृति, लोकधर्म जैसे पचासों शब्द वजनी बने हैं। साहित्य के इतिहास में यह पक्ष जितना नकारा गया उतना ही अब जुड़ कर साहित्य, इतिहास और अन्य विषयों को श्री प्रदान कर रहा है। लोकश्री और कलाश्री की तूती अब चहुँओर बोली जा रही है।

यह शुभ लक्षण है कि लोककलाएँ जो अब तक अपने ही अंचल की सीमा और शोभा बनी हुई थीं, अब उनका विस्तार हुआ है। वे अपनी देहरी लांघ कर देश-देशान्तर में छलांगी हैं। उनकी आंचलिक गंध-सुगन्ध में कई तरह की हवाएँ आ मिली हैं पर इससे कई खतरे भी खड़े हो गये हैं। जो जमीन जकड़ी हुई थी उसकी जड़े अब जर्जरायमान हुई जा रही हैं। एक ठहराव, अलगाव और टूटन की अजीब स्थिति ने ऐसे संक्रमण को जन्म दे दिया है जिससे लोककलाओं के विविध रूपों में आपाधापी हो गयी हैं। इन कलाओं के साथ जो अनुष्ठान, आस्थाएँ, उत्सव और यजमान आजीविका से जुड़े हुए थे उन्हें सहसा ऐसा धक्का लगा है कि सारा वातावरण हक्काबक्का सा हो गया है। संक्रमण की यह स्थिति कहीं-कहीं अतिक्रमण तक पहुँच गई हैं।

कई कला विधाएँ अपना ऐसा हुलिया कर गई कि वे अब पहचानी ही नहीं जा रही हैं। कुछ का तो अपहरण और कइयों का मरण हो गया है। कई नकलची असलची बन बैठे और जो असली है उनके भाव भंगूड़े के भी नहीं रहे हैं। कुछ अच्छे कलाकारों को मान-सम्मान और पुरस्कार का भभका देकर उन्हें अपनी जमीन से भी तोड़ दिया गया। कुछ जो वस्तुतः मान-सम्मान के योग्य थे उन्हें वह योग्यता दिखाने का अवसर

नहीं मिलने से उनका दिल भर गया और एक अजीब दर्द बढ़ गया है। बहुत से एजेन्ट, दलाल इन कलाओं के उन्नायक उद्धरक बन कर प्रकट हुए जिन्होंने कलाओं को तो हलाल ही अधिक किया बल्कि अपना उद्धार कर कलाकारों और उनकी कलाओं को उल्टा बदरंग कर दिया है।

अपने ही अंचल में पूरा नही चल पाने वाला कलाकार जो अब तक रेत को भी पार नहीं कर सका था जब हवाई जहाज में उड़कर अपने ही राष्ट्र को छोड़कर दूसरे राष्ट्रों में चला गया तो उसका जीव रोटले और राबड़ी के बिना मचमचियाने लगा और उसकी कला देख सुन अपने लोगों से जो मन-तन का मोद मिलता था, वह उसे नहीं मिला पर जो कुछ मिला उसका चस्का भी एक ऐसी लार दे गया कि उसे उसकी जमीन और उसका जीवन ही अटपटा सा दिखाई देने लगा।

सामूहिक गान और नृत्य के वे जमाने जैसे लद से गये हैं। तब समूह में भी प्रत्येक कलाकार अपने को प्रकटाता हुआ समग्र माहौल को एक अजीब और अद्‌भुत आनन्द देता था। कोई कलाकार कोई गीत-पंक्ति गाता तो दूसरा उसी पंक्ति को पकड़ अपना कुछ मिलाता। तीसरा उसे और निराला स्वर देता। फिर पहला और दूसरा और तीसरा उसे पकड़ता हुआ अपना ओज और माधुर्य और ठसक और अंग-अभिनय देता रहता और इस तरह उनकी बारी-बारी में जो गीत को रंग मिलता वह देखते ही बनता था। अब जैसे चीराफाड़ी कर दी गई है। हर चीज ऐसी बना दी गई है। कि जैसे उसका मोण तो निकाल दिया गया है और उस पर अट्यावण ही अट्यावण लथेड़ दिया गया है। विदेशी लोगों ने यहाँ आकर इन कलाओं और कलाकारों के साथ मिल बैठकर धन आदि का लालच दे उनमें कई रूपों की विकृति को जन्म दिया इससे यहाँ के कलाध्येता भी उनकी तुलना में अधिक खर्च नहीं करने पर अपने मनमाफिक अध्ययन से वंचित हो गये।

घुमक्कड़ जातियों के हाल तो बेहाल हो गये हैं। हर पंक्ति और हर गीत का जब तक उन्हें पारिश्रमिक नहीं मिलेगा वे आगे आपका काम नहीं होने देगें। एक चित्र भी खींचा तो बिना उसका पारिश्रमिक लिए वे आपकों वहाँ से हिलनें नहीं देगें। दिनभर बैठे रहेगें मगर कोई जानकारी वे बिना कुछ लिए और वह भी अपनी मरजी का, आपका कोई काम नहीं करेंगे न अन्यों से ही करवाने देंगे। यह सब उन विदेशी अध्येताओं का खेल रहा जो जल्दी-फल्दी में आते हैं और मनमाना पैसा लुटाकर अपना काम कर ले जाते हैं।

पर हम इस सत्य को भी नहीं छुपा सकते कि जो काम विदेशियों ने किया वह काम उतने अच्छे ढंग से यहाँ के लोग नहीं कर पाये। साधन सुविधाओं से सम्पन्न होने के कारण विदेशी लोग आँखमीच कर पैसा बहा तो देते हैं पर यहाँ की संस्कृति, भूमि, भूगोल और समग्र परिवेश का परिचय नहीं होने के कारण वे जो कुछ अध्ययन-निष्कर्ष वहाँ जाकर देते हैं उसमें बड़े फोड़े नजर आते हैं। कई बार भारत में भी उन्हें सही अध्येता नहीं मिल पाने के कारण वे कई गलत सूचनाओं को बटोर ले जाते हैं। कई लोग एक ही विधा का अध्ययन करने इसीलिए बार-बार आते हैं कि उन्हें सही स्थान, व्यक्ति और विधा तक की जानकारी नहीं मिल पाती है और तब वे अपना सिर ठोकने लगते हैं।

यह ठीक है कि लोककलाएँ किसी भू-भाग विशेष की धरोहर होती है परन्तु उनकी मूल उद्भावनाओं के अंश-अंश कोर तो विश्व के न जाने कितने भू-भाग को नापते-समटते पाये जाते हैं। राजस्थान के सर्वाधिक लोकप्रिय पणिहारी गीत का कथाबिन्दु विश्व के कई भागों में प्रचलित है। लोककथाओं की, बालगीतों की, लोरियों की भी यही स्थिति देखने को मिलेगी। कोई घुमक्कड़ अध्येता यदि लोककलाओं की अध्ययन यात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय देशाटन करे तो उसे यह जान बड़ा अचरज होगा कि जहाँ-जहाँ मनुष्य हैं वहाँ-वहाँ की लोककला और लोकसंस्कृति का मूल ठहराव

समानधर्मी है। कलामण्डल में आये दिन आने वाले विदेशी अनुसंधित्सु अध्येताओं से जब वार्ता विमर्श होता है तो पता चलता है कि इन कलाओं का सारा संसार एक है।

भारत वर्ष में भूमि एवं भित्ति को अलंकृत करने की प्रथा प्राचीन काल से ही लोकप्रिय रही है। इसका उदभव कब हुआ, यह ठीक-ठीक बता पाना सम्भव नहीं है। जब मानव कन्दराओं में रहता था, तन ढकने की भी आवश्यकता अनुभव नहीं करता था, शिकार से प्राप्त सामग्री ही उसका मुख्य आहार था, तब भी उसमें कलात्मक प्रतिभा का उद्भव हो चुका था। इसका प्रमाण उस युग की गुफाओं में निर्मित चित्र है।

भारत के प्राचीनतम प्रागैतिहासिक चित्र मध्यप्रदेश, बिहार तथा उत्तर प्रदेश राज्यों में मिलें हैं, पर सबसे अधिक प्राचीन चित्र मिर्जापुर की कन्दराओं से प्राप्त माने जाते हैं। मिर्जापुर की लिखनियाँ-2 की छत और भित्तियों पर अंकित विविध प्रकार के आखेट दृश्यों, पशु चित्रों तथा नर्तन वादन आदि के आलेखनों से उन आदिम निवासियों की कलाप्रियता और सौन्दर्य बोध का सजीव परिचय मिलता है। उत्तर प्रदेश की सीमाएँ एक बड़ा राज्य होने के कारण पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार तथा तराई के मैदान से जुड़े हुए नेपाल देश से मिलती हैं। यह प्रदेश भारत के उत्तर-मध्य में स्थित होने के कारण समय-समय पर विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं का केन्द्र रहा है। इतिहासवेत्ताओं के कथनानुसार आर्यो के भारत में आने से पूर्व ही यहाँ के मानव ने सभ्यता के कई सोपान पार कर लिए थे। समय के साथ-साथ आदिम युग में मानव में सामाजिक भावना का उदय तथा परिवर्द्धन हुआ और समाज का रूप, सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ परिष्कृत होता गया। आर्यो का उत्तर से इसी काल में आगमन हुआ तथा यहाँ की सभ्यता और संस्कृति को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में आर्यों ने अपना अमूल्य योगदान दिया।

आर्यो के आगमन से पूर्व की कला के बारे में, प्रागैतिहासिक काल की कला को छोड़कर, अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है, पर आर्यो के आगमन के पश्चात् की कला की कुछ कृतियाँ हमें आज भी दिखाई देती हैं। आर्य लोग अग्निपूजक थे और वे सूर्य, इन्द्र, वरूण आदि के उपासक थे। वे समय-समय पर इन देवताओं की दया व आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु तथा उनको प्रसन्न करने हेतु यज्ञ एवं हवन करते थे, बलि भी चढ़ाते थे। यज्ञ-वेदियों को बिन्दु, रेखाओं, त्रिकोणों-वृत्त-आयत-वर्ग आदि ज्यामितिय आकारों से विभिन्न प्रकार के डिजाइन बनाकर सजाते थे और उसको सजाने हेतु विभिन्न अनाज, हल्दी, कुंकुम, फूल-पत्ती आदि का प्रयोग करते थे। इन ज्यामितिक आकारों के विशेष अवसरों पर विशेष अर्थ होते थे। इनकी मंत्रोच्चार के साथ विधिवत पूजा भी की जाती थी। धीरे-धीरे वैदिक धर्म का भी उदय होता गया और विभिन्न देवी-देवताओं की भी आकारों के साथ पूजा की जाने लगी। दैनिक जीवन में अधिकांश प्रयोग आने वाली वस्तुएँ तथा अत्यधिक उपयोगी पशु-पक्षियों की भी पूजा करने की प्रथा चल पड़ी तथा भित्ति एवं भूमि को मानव उल्लास व खुशी के साथ अलंकृत करने लगा। वास्तव में उस समय का मानव उनको भूमि या भित्तियों पर आलेखित कर पूजा करता था और इस तरह उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता था।

इस तरह की सजावट, जोकि केवल सुन्दरता बढ़ाने के दृष्टिकोण से आरम्भ हुई थी, धीरे-धीरे स्वतः हमारे जीवन का अंग बन गई और अपनी धार्मिक पृष्ठभूमि के साथ हमारी महिलाओं के उत्सव, त्योहार व संस्कारों में समाहित होती गई। परिणाम स्वरूप एक ऐसी कलाधारा का विकास हुआ जिस पर महिलाओं का ही अधिकार हो गया और जो उनके द्वारा संवरती व निखरती हुई पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती गई।

कुछ समय पश्चात् कला की यह धारा बहुत ही सहज और सुगम थी तथा परिवार के सुख-सौभाग्य की कामना से ओतप्रोत थी, लोककला के नाम से जानी गई। इस कला

को जानने के लिए बालिकाओं, युवतियों तथा महिलाओं को स्कूलों में नहीं जाना पड़ा और न ही तूलिका व रंगों अथवा प्रयोग में आने वाले अन्य समान के लिए बाजारों का मुँह ताकना पड़ा। इसके विपरीत यह एक ऐसी कला थी जिसके लिए केवल आँगन अथवा भित्ति चाहिए थी, तूलिका के रूप में रूई, सूत, सूखी टहनी या अनामिका अंगुली चाहिए थी और चाहिए था चावल, गेहूँ अथवा जौ का आटा, फूल व पत्तियाँ, विभिन्न प्रकार की दालें व अनाज तथा साथ ही साथ पालतु पशुओं (गाय-भैंस) का गोबर व मिट्टी। ये समस्त वस्तुएँ सहज उपलब्ध थीं। यही कारण है कि यह लोककला आरम्भ से ही फलती-फूलती गई, धर्म ने इसे अधिक सरस बनाया और समाज ने मान-सम्मान दिया। आज भी यह लोककला अपना अनुरंजनकारी रूप त्योहारों, उत्सवों तथा संस्कारों के अवसर पर महिलाओं द्वारा प्रस्तुत करती है।

यह प्रदेश प्रायः सभी प्रमुख देवी-देवताओं- शिव, राम, कृष्ण, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी, सीता आदि की जन्मभूमि तथा कर्मभूमि रहा है। जलवायु और बनस्पति में भी विविधता लिए हुए है। यहाँ उत्तर में बर्फ से ढके पहाड़ हैं और राजस्थान से मिलता हुआ मरूभूमि का भाग भी। विभिन्न प्रकार के फल-फूल, वृक्षों, पशु-पक्षियों से यह प्रदेश भरा पड़ा है। विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से इस प्रदेश की जनसंख्या बनी है। भाषाओं की दृष्टि से भी भिन्नता है। खानपान और रहन-सहन में अंतर भी आप उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम में पायेगें। इस तरह एक नाम होते हुए भी यह विभिन्न संस्कृतियों को अपने में समेटे हुए है तथा त्योहारों और उत्सवों, संस्कारों के मनाने के ढंग में जातीय व क्षेत्रीय विविधता के रहते हुए एकता प्रदर्शित करता है।

अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने सन् 1916 ई0 में बांग्ला में अल्पना मांडना शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित कराई थी, जो उस समय इतनी प्रचलित हुई कि फ्रेंच भाषा तक में अनूदित हुई। इसके बाद राजस्थानी माँडने तथा बिहार की अरिपन कला तथा मधुवनी

कला पर पुस्तकें प्रकाशित हुई। अभी कुछ दिनों पूर्व पहाड़ी लोककला पर भी पुस्तक लिखी गई, पर अभी तक उत्तर प्रदेश की लोककला पर एक भी पुस्तक नहीं। प्रस्तुत शोध योजना में उत्तर प्रदेश में प्रचलित विविध प्रकार कला की शैलियों का स्वरूप और विस्तार सामने रखने का प्रयास है।

(ब) उत्तर प्रदेश की लोक परम्परायें, मान्यतायें और आस्थायें व उनका लोककला के विकास में योगदान

विद्वानों के मतानुसार "लोक" शब्द संस्कृत के "लोक दर्शन" धातु में "धय" प्रत्यय लगाने से बना है। इस धातु का अर्थ है 'देखना'। लट् लकार अन्य पुरुष एक वचन में इसका रूप होता है 'लोकते' अतः लोक का अर्थ हुआ 'देखने वाला' वह समस्त जनसमुदाय जो इस क्रिया को करता है, "लोक" के अर्न्तगत समाविष्ट है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के लेखनानुसार 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं, वरन् नगरों और गाँवों में फैली वह जनता है, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग अकृत्रिम और सरल जीवन व्यतीत करते हैं। "पढ़ने लिखने के बाद संस्कृति बदल जाती है। और जीवन में कृत्रिमता आ जाती है तथा मानव प्रकृति से हटने लगता है। इसीलिए लोक कला जन-साधारण से जुड़ी है, परन्तु इसका क्षेत्रफल व्यापक है। किसी-किसी रूप में यह मानव के साथ रहती है। इसका जन्म भावनाओं तथा परम्पराओं पर आधारित है, क्योंकि यह जन-सामान्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति है परम्परा से प्रत्येक मानव अपनी भावनाओं के अनुसार इतना अधिक बंधा हुआ रहा है कि उसके साथ उसके साथ उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन आने का साहस नहीं किया। लोक-परम्परा अत्यधिक दूर और अत्यन्त प्राचीन कोई वस्तु नहीं है। वह तो हमारे मध्य सत्य और जीवित है।

लोककला पृथक वातावरण में प्राचीन परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने वाली कला है। इस वातावरण का प्रभाव, आकृतियों, शैली, उपकरणों, धार्मिक, क्रियाओं, मनोरंजन के साधनों, जन्म, विवाह एवं मृत्यु आदि संस्कारों तथा फसल के उत्सवों, हाट, मेला आदि में विकसित होता दिखायी देता है। समस्त कलायें, मनुष्य की सोन्दर्य वृत्ति का परिणाम है। अपने चारों ओर के वातावरन से प्रेरित होकर मनुष्य में जो सौन्दर्य धारणा उत्पन्न होती है, वही कलाओं में प्रतिफलित होती है।

लोककला शब्द का प्रयोग आधुनिक काल में प्रचलित अर्थबोध के लिए 18वीं शती में हुआ। लोककला का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उसके अन्तर्गत लोक चित्रकला लोक मूर्तिकला, लोक संगीत और लोक गीत आदि सम्मिलित हैं। 18वीं शती के पूर्व, इसको लोककला न कहकर केवल कला ही कहते थे। भारत की चौसठ कलाओं के अर्न्तगत ही लोक कलाओं का स्थान है। यूरोप में सर्वप्रथम यह भावना दो शताब्दी पूर्व जगी, उसका प्रभाव भारत में भी पड़ा। 'यामिनी राय' ने इस कला को लोककला के रूप में भारत में सर्वप्रथम निरूपित किया। धीरे-धीरे यह निरूपित शब्द अपने क्षेत्र में व्यापक हुआ और लोककला के अर्न्तगत ही चित्रकला का स्थान हुआ।

लोककला एक ऐसी परम्परागत कला के रूप में स्थिर है, जिसकी जड़े हमारी संस्कृति के साथ आरम्भ से जुड़ी हैं। जिसे धर्म, परम्परा, तीज-त्योहार आदि के माध्यम से इसके विभिन्न स्वरूप समय-समय पर सामने आते रहते हैं। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक कुछ न कुछ ऐसे अंकन प्रत्येक उपक्रम के साथ किये जाते हैं। जिनके पीछे एक धार्मिक भावना जुड़ी होती है।

भारतीय जीवन में धर्म की प्रधानता है। उसमें केवल भावना का ही अंकन है। इसके लिए किसी विशेष दक्षता की आवश्यकता नहीं होती। प्राचीन काल में इस प्रकार

की कला लोक समाज में ही सीमित थी। अतः घरेलू कला के रूप में ही इसका अस्तित्व बना रहा।

लोककला का प्रचलित अर्थ है। जनता का साहित्य, और ग्रामीण कहानी आदि, परन्तु जनता जो कुछ कहती है और सुनती है, सब लोककला है। जनता के मानस में ही लोककला का जन्म होता है।

ऐसे सभी प्राचीन विश्वासों, प्रथाओं ओर परम्पराओं का सम्पूर्ण योग जो सभ्य समाज के अल्प-शिक्षित लोगों के बीच आज तक प्रचलित है। इसकी परिधि में परियों की कहानियाँ, लोकानुभूतियाँ, पुराण-गाथायें, अन्ध-विश्वास, उत्सव, रीतियाँ, परम्परागत खेल या मनोरंजन, लोकगीत, प्रचलित कहावतें, कला कौशल, लोक-नृत्य और ऐसी अन्य सभी बातें सम्मिलित की जा सकती हैं। मुख्य रूप से लोक कला का उद्‌गम तथा क्रीड़ा स्थल ग्राम जीवन है। लोककला ग्राम के विभिन्न अंगों स्पर्श करती हुई चलती है ओर उसमें ग्रामजीवन की सरल-सहज तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। इसीसे ऐनी बेसेन्ट ने कहा था कि, "कला निर्धन का खाद्य पदार्थ है, धनपतियों की विलास सामग्री नही।"

श्री शैलेन्द नाथ नाथ सामंत ने कहा है कि, "लोककला जन सामान्य की विशेषताओं व ग्रामीण जन-समुदाय की सामूहिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है।"

लोक जीवन में आदिम कला का अस्तित्व, प्राचीन काल से चला आ रहा है। यहाँ के मानव का सम्पूर्ण जीवन विभिन्न लोक रीतियों एवं लोकाचारों से आच्छादित रहा है। जिस प्रकार मानवशास्त्रियों ने मनुष्य जाति के विकास की प्राचीन परम्परा को अंकित किया है। उसी प्रकार लोकवार्ताविदों ने लोकरीतियों, लोकाचारों एवं लोक-व्यवहारों के क्रमिक विकास का सुविस्तीर्ण परम्परा को भी खोज निकाला है।

लोकृतियों की अद्भुत कल्पनाओं एवं उनकी सहस्त्रोन्मुखी रचना शैलियों से प्रभावित होकर स्व0 पं0 जवाहर लाल नेहरू ने अपने ग्रन्थ "हिन्दुस्तान की कहानी" मे आश्चर्य व्यक्त करते हुए लिखा है कि, मुझे कई बार इस बात पर आश्चर्य होता है कि आदमी और औरत जिन्होंने कि ऐसे सजीव सपनों और कल्पनाओं के सहारे ऐसे अद्भुत और दिलचस्प कथानक संजोये हैं- कैसे रहे होंगे? और विचार तथा कल्पनाओं की सोने की खान में से इन्होंने खोद कर ऐसी चीजों को निकाला होगा।

लोककला, कला की सुदीर्घ परम्परा को पार करती हुई लोक जीवन में ऐसे सरल और स्वाभाविक ढंग से घुल मिल गया है कि उससे बचकर लोक जीवन चल ही नहीं सकता। लोक जीवन के सुख-दुख के धार्मिक, सामाजिक क्रिया-कलापों में जो चित्रकारी, जो साज-सज्जा की कला, अनेक वस्तुओं, वस्त्रों आदि के रंगों की कलात्मक तथा समुचित मिलावट देखी जाती है।

यह न जाने किस सुदीर्घ काल से लोक-जीवन के रंग-रंग में फैली चली आ रही है। लोक-जीवन की मिट्टी में ही ये कला पनपती, बढ़ती, फूलती और फैलती है।

प्रत्येक त्योहार लोक-श्रृंखला से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध है। उस त्योहार की अपनी जाति-बिरादरी में कैसे, कब, क्यों मनाया जाय, यह घर की वृद्धायें ही बताती हैं। जो इसकी ऐतिहासिकता का प्रमाण है। जाति, कुल व समय में अन्तर आते रहते हैं। लोक कला जहाँ एक ओर समाज के अतीत के अनुभवों को संजो कर रखती है। वहीं दूसरी ओर वर्तमान के भी प्राणों का उससे स्पन्दन सुनाई देता है। यह युग-युगान्तर से चली आ रही परम्पराओं के साथ अपना योग विच्छिन नहीं होने देती। इसकी उत्पत्ति ऋतु परिवर्तन के समय स्त्रियों का कलात्मक सृजन उदित हो उठता है। प्रतिदिन के बंधे-बंधाये कार्यो का महत्व इनकी नजरों में कम हो जाता है और इसका एक नया

आनन्द, नया उल्लास, इन सब कार्यो में दिखायी देता है, इसमें कोई आश्चर्य नही है कि महिलाओं ने इस कला को जीवित रखा। अपने प्रत्यक्ष अनुभव में जाने वाले नये-नये रूपों और रंगों के साथ प्रयोग करने का साहस उनमें है और फिर भी स्त्रियाँ युग-युग से चली आने वाली परम्पराओं के साथ अपना योग विच्छिन्न नहीं होने देती- बस इसीसे इनका इतिहस बन जाता है। यहीं से परम्परा जीवित बनी रहती है।

लोककला की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी अपरिवर्तनशीलता है ग्राम जीवन में नागरिक जीवन की अपेक्षा कहीं कम परिवर्तन हुए हैं। जो अंकन प्रतीकात्मक रूप में एक धार्मिक भावना से पहले बना था, वह आज भी उसी स्वरूप में अंकित मिलता है। यह तो एक ऐसी सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो लोकजीवन की एक धरोहर के रूप में कही जा सकती है। धरती, कपड़ा, पट्टे, दीवार और अन्य कलात्मक वस्तुओं आदि पर उपर्युक्त भावना का स्वरूप आज भी चित्रित किया जाता है। यहाँ तक कि गोदना, मेंहदी और महावर आदि उपकरणों से संवारा और सजाया है।

लोककला अपने परम्परागत विश्वासों, धारणाओं, आस्थाओं, रहस्यात्मक संकेतों और अतीत की प्रेरणा पर आधारित है। समाज की रीति-रिवाजों के परिवर्तन के साथ ही साथ इसका रूप ही बदल जाता है। लोककला के अन्तर्गत जनसाधारण में व्याप्त कलात्मक भावनाओं का प्रतिनिधित्व भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त होता है, लोककला सामाजिक रीति-रिवाज के अन्तर्गत विवाह, त्योहार, अतिथि आगमन, प्रदर्शन और धार्मिक पूजा, अनुष्ठान एवं अनेक महत्वपूर्ण अवसरों पर चित्रित होता है। लोककला सौन्दर्यात्मक अनुभूति, चेष्टा भावना, मनोवृत्ति लोक-जीवन में घुली-मिली मिलती है, क्योंकि इसका अटूट सम्बन्ध हमारी सांस्कृतिक भावनाओं से रहा है। इसका सर्वागीण विकास घरेलू जीवन में मिलता है।

भारत के जनजीवन में व्याप्त कला लोककला के अन्तर्गत आती है। इस कला की शिक्षा हमें परिवार समाज एवं ग्रामीण क्षेत्र में मिलती है। इसका इतिहास कहीं लिखा नहीं गया और न ही किसी ने लिखना चाहा यह कला जनजीवन के मंगल, सुख प्रदान करने वाली कला है इस कला का सम्बन्ध हमारी आस्थायें, रीति-रिवाजों एवं मान-मर्यादा से है। यह कला हमारी संस्कृति को संरक्षण प्रदान करती है। यह कला प्रान्तीय आधार पर विकसित होती है, अर्थात प्रान्त एवं बोली बदलने पर इस काल के चिन्हों में परिवर्तन सम्भव है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि यह कला स्थानीय है। यह कला धर्म की भावना को अपने साथ निहित किये हुए व्याप्त है। विभिन्न युगों पर उससे अस्तित्व की छाप एक जैसी नहीं रही लोककला के परम्परागत अभ्युदय को यदि साहित्य के अभ्युदय से तुलना करके देखा जाये तो वस्तुस्थिति को अधिक स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। बिना किसी अवलम्ब, आश्रय, प्रोत्साहन और प्रलोभन के स्वतंत्र, स्वच्छंद एवं सौम्य गति से वह निरन्तर आगे बढ़ती रही। हमारे ममतामय तथा मधुर सम्बन्धों की भाँति उसकी अटूट एकता हमारे साथ आरम्भ से ही बनी रही।

भारत में लोककला स्त्रियों ने जीवित रखी है। परम्पराओं से चली आ रही साध से वे अपने को विच्छिन्न नहीं होने देती, व्रत, उपवास, उत्सव, त्योहार एवं धार्मिक अनुष्ठानों पर अपने बच्चे, पति, भाई, पुत्री व जाति की सुख-समृद्धि के लिए वे अनेक मंगल कामनायें करती हैं, देश के त्योहारों व उत्सवों पर अनेक मांगलिक कार्य करती हैं। लोककला "बचपना" और "मासूमियत" का समन्वय है। ऐसी विचारधारा रखने वाले जान-बूझकर या अनजाने इस ओर ध्यान नहीं देते, आखिर इसके "संकेतों" का वास्तविक अर्थ क्या है? लोक कला के ये तत्व लोक जीवन से ही ग्रहण किये गये हैं। लोक जीवन इन तत्वों के ताने-बाने से बुना हुआ सचमुच आज भी उसी सरलता,

स्वतंत्रता, सच्चाई और विश्वासों के अलंकरणों के दीप्त मानव समाज के काम आ रहा है।

भारतीय कला और साहित्य में लोक जीवन विविध रूपों में मिलता है। लोक-कथायें, लोक गीत, पहेलियाँ, रंग-रास आदि विविध माध्यम हैं। आज भी देश के लोकजीवन की झाँकी हमें "बना और बनी" की लोक कविता और लोक कथाओं में मिलती है। हमारा साहित्य जिस रूप में उसे हम आज देखते हैं, उसके बीच इसी लोक जीवन संस्कृति और लोक साहित्य में पता नहीं कितने वर्षो से बिखरे हुए हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे पानी और बूंद।

लोककला न तो प्रकृति की नकल करती है और न उसका यथार्थ रूप सामने लाती है। दरअसल यह सामान्य सर्जक की चेतना पर पड़ी छाप को कल्पना और अभिव्यक्ति के स्तर पर प्रतिबिम्बित करती है, यही कारण है कि इससे जनमानस के मध्य पर्याप्त विस्तार पाया है। समयान्तर से यह घर आंगन तक ही सीमित नहीं रही, अपितु, कशीदाकारी, खिलौने, नक्काशी, पूजागृहों, भित्ति चित्रों एवं वस्त्रों आदि तक पहुँच गयी।

लोककला का प्रवेश जनमानस में इतना गहरा रहा है कि वह लोगों के स्वभाव में घुल गयी है यही कारण है कि लोक-कला सृजन दृष्टि वाले लोगों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत में प्राप्त हो जाती है, इसकों सीखने के लिए कला के किसी विद्यालय या गुरू के पास जाने की आवश्यकता नहीं होती।

सम्पूर्ण विश्व में आज लोक-कला के प्रति लोगों की रूचि बढ़ती जा रही है, यह इसकी समृद्धि का प्रतीक है। विभिन्न देशों में लोककला के सम्बन्ध में किया जा रहा, शोध कार्य इसकी सादगी विशिष्टता और गतिशीलता का परिणाम है। आज के भौतिक तथा मानसिक तनाव के युग में मन को सुख देने वाली यह सरल लोकरंजनी कला वास्तव

में आत्मतुष्टि एवं जीवनी शक्ति के लिए प्रेरणादायी है। इसकी परम्परा अर्थपूर्ण है तथा जीवन के प्रवाह को शाश्वत रखने वाली है। लोककला की अभिव्यक्ति मानव जीवन के संस्कारों, रहस्यमयता, प्रेम की पवित्र तन्मयता तथा सम्बन्धों की मधुरता का द्योतक है।

संस्कृति एक दूरगामी दृष्टि रखती है। जब तक वह दूरगामी प्रभाव को देखती है, तब तक तत्कालीन महत्व को ध्यान में नहीं रखती, उस महत्व की जाँच करती हैं। आज यह ज्वलन्त प्रश्न प्रायः उठाया जा रहा है कि हमारी संस्कृति खतरे में है और यदि गहराई से विचार करें तो लोकसंस्कृति सबसे अधिक खतरे में है। इस खतरे के दो प्रमुख कारण हैं एक तो समूह संचार साधनों का दबाव और दूसरा संस्कृति को उपभोग की वस्तु मानने वाली दृष्टि। इलेक्ट्रानिक मीडिया द्वारा प्रसारित कार्यक्रमों में एकरूपता अधिक रहती है, विभिन्नता कम। लोकसंस्कृति की एक विशेषता है कि वह एक होते हुए भी थोड़ेथोड़े अन्तर से अलगअलग विकसित होती रही है, जिसके कारण उसकी विविध रंगते हैं। आज अनेक प्रकार की धुनों की विविधाएँ और भंगिमाएँ, लुप्त होती जा रही हैं। लोकगीतों की एक अलग रेडियों धुन ही बन गयी है। समूह संचार साधन मशीन के साथ समझौता करके लोकगीतों को समयसीमा में बाँध देते हैं विविध प्रकार की योजनाओं के प्रसारप्रचार के लिए, जो लोकगीतों के स्वभाव के विपरीत हैं। यह बात भी सच है कि लोकसाहित्य सामाजिक विसंगतियों के प्रति तटस्थ नहीं रह पाता। उसकी पीड़ा के अनुभव को वह बड़ी स्वाभाविकता के साथ अभिव्यक्ति देता है और उसकी संवेदना एक व्यक्ति की न रहकर पूरे समाज की वेदना से जुड़ जाती है। इसलिए वह चिरपुरातन होते हुए भी चिरनूतन बना रहता है क्योंकि मानवीय संवेदनाएँ शाश्वत है। लोकसाहित्य अपने समकालीन समाज के भीतर की मूल्यवत्ता की जाँच भी करता रहता है।

आज लोकगीतों से कटने के कारण मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य से सहज पैदा होने वाली आत्मीयता चुकती जा रही है। हमारी वाचिक परम्परा सम्बन्धों के साहचर्य पर टिकी है। वे सम्बन्ध अब चरमरा रहे हैं क्योंकि हम लोकगीतों के यथार्थ और आस्वाद दोनों से अलग होते जा रहे हैं। इस वाचिक परम्परा से कटने के कारण ही हम धुनों और लय की पहचान से वंचित हो रहे हैं, केवल संगीत की लय की पहचान से ही नहीं, पूरे जीवन की लय की पहचान से भी। इस लय को पहचानना सम्पूर्ण जीवन को पहचानना है।

आज लोकसाहित्य के समक्ष कई चुनौतियाँ खड़ी हैं। गाँवों में शहर का प्रवेश निरन्तर बढ़ता जा रहा है, गाँव निरन्तर टूटता जा रहा है। ऐसी स्थिति में केवल लोकसाहित्य की जीवन्त रसधार ही ऐसी है, जो उसे टूटने से बचा रही है। गाँव का प्रवेश शहर में अगर कहीं दिखाई देता है तो वह लोकसाहित्य के माध्यम से। किन्तु इधर फिल्मी धुनों का लोकगीतीकरण उसकी सहजता पर बुरी तरह प्रहार कर रहा है। चाहे लोकगीतों की धुनों का फिल्मीकरण हो या फिल्मी धुनों का लोकगीतीकरण, दोनों ने ही इस सहज विधा को बहुत प्रभावित किया है।

वैसे लोकसाहित्य तमाम चुनौतियों का उत्तर स्वयं ही है। कितने ही संघर्षो के बीच वह स्वयं अपनी राह बनाता रहा है, अपनी रक्षा करता रहा है। लोकसाहित्य किसी से समझौता नहीं करता। जबजब धाराएँ रूक गयी हैं तबतब लोकसंस्कृति विद्रोह करके एक नयी धार बनाती आयी है और उस धार को क्षीण या समाप्तप्राय होने पर नयी धार से जोड़ती आयी है। अब यों कहा जाये कि लोकसंस्कृति को बचाने के लिए यन्त्र की आवश्यकता पड़ेगी तो कुछ ही सीमा तक यह बात सही है। क्योंकि यन्त्र से जिसकी रक्षा होती है वह वस्तु निरी वस्तु बन जाती है, फिर उसकी आत्मा नहीं रह जाती और यह भी

विचारणीय है कि रक्षा उसकी होती है जिसका प्रयोजन न रह गया हो। गीतों का प्रयोजन है और वे स्वयं जीवन का प्रयोजन हैं। हमारे समाज की विडम्बना यह है कि आज प्रवाह के बारे में जब सोचते हैं। तब गति के बारे में नहीं सोचते। स्थिति या ठहराव की बात सोचते हैं। इसी कारण हमारी अपनी कोई गति नहीं रह गयी है। हमारी गति दूसरे के द्वारा परिचालित गति है। हम दूसरों के ऊपर अवलम्बित हैं। यदि हम लोकसंस्कृति के उस सन्देश को ग्रहण कर सकते हैं, जो ऋतु के बदलाव को बाहर से अधिक भीतर पाता है और जो एक मनुष्य की सार्थकता दूसरे मनुष्य की पीड़ा पहचानने में समझता है तो हम मनुष्य बने रह सकते थे। काश हम लोकसंस्कृति को अपने जीवन की साँस के साथ जी सकते, हम उसकी प्रदर्शनी नहीं लगाते तो शायद तो बिखराव हमारे जीवन में आ रहा है, आस्था के स्तर पर, रिश्तों के स्तर पर और रोजमर्रा के व्यवहार के स्तर पर, वह न आता। कुछ भंयकर नशीली दवाओं का सेवन करके हमारी संस्कृति बाँझ हो गयी है, पर अभी रोग असाध्य नहीं हुआ है। अभी कुछ व्रत और तपस्या करने से तथा समूची सृष्टि से अपने को जोड़ने से इस बाँझपन का निराकरण सम्भव हो सकता है, लेकिन बहुत देर हो चुकी है। समय समाप्त होने का संकेत बारबार मिल रहा है। हम लोकसाहित्य के संकलन पर नहीं आकलन पर बल दें। आकलन का अर्थ होता है अपने को जोड़ना, केवल उसके टुकड़े को जोड़ना नहीं या केवल कुछ लयों या कल्पनाओं के टुकड़ों को जोड़ना नहीं।

लोकगीत तथा अन्य गीतः

इस दृष्टि से लोकगीत उन गीतों से भिन्न हैं जो किसी विशिष्ट मानस की विशेषता से युक्त होते हैं, जिन पर किसी व्यक्ति विशेष की अपनी शैली, उसके अपने दर्श न, उसके अपने ज्ञानकोश का प्रभाव रहता है और जिन्हें पढ़ते या सुनते ही यह प्रश्न पैदा

होता है कि यह गीत किसने रचा, जो इतना वैयक्तिक होता है कि लोक के साथ एकाएक नहीं हो पाता। लोकगीत के सम्बन्ध में यह प्रश्न कभी उठता ही नहीं कि इस गीत का कर्त्ता कौन है? लोक गीत के शब्द जैसे समस्त लोक के शब्द हैं, लोकगीत का ज्ञानकोश जैसे समस्त लोक का अपना ज्ञानकोश होता है। उसकी कल्पनामूर्तियाँ लोक सम्भव होती हैं। यही कारण है कि कभीकभी किसी न किसी विद्वान ने यह भी माना कि लोकगीत लोकसमूह द्वारा ही निर्मित होता है। वस्तुतः ऐसा कभी सम्भव नहीं होता। गीत का निर्मा ण तो व्यक्ति ही करता है, पर उस व्यक्ति का लोक से ऐसा तादात्य होता है कि न निर्माण के समय ही, न उसके प्रसार के समय ही यह विदित हो सकता है कि उसे कोई बना रहा है या वह बनाया जा रहा है। कभीकभी ऐसे गीतों के निर्माण में यह भी होता है कि एक व्यक्ति आरम्भ करता है, और दूसरा भी या तीसरा भी उसमें कोई कड़ी जोड़ देता है, और वह कड़ी या कड़ियाँ भी उस मूल गीत की अपनी बनकर परम्परा में चल पड़ता है।

लोकगीत उन रहस्यवादी गीतों से भी भिन्न होता है, जिसमें कोई कवि अथवा संत अपनी दार्शनिक रहस्यानुभूति को अभिव्यक्त करता है। लोकगीत की दैवीकता अथवा उसका रहस्यसिंचन आदिमानस के अवशेष के कारण होती है।

सहायक ग्रन्थ सूची

1. संगीत चिंतामणि — आचार्य वृहस्पति
2. स्वर मेल कलानिधि — पं0 रामामात्य
3. संगीत मकरन्द — नारद कृत
4. अवधी लोकगीत — विद्याबिन्दु सिंह
5. आदिवासी लोकगीत — उमाकान्त त्रिपाठी
6. सहस रस — डॉ0 प्रेमलता शर्मा
7. भरत का संगीत सिद्धान्त — आचार्य वृहस्पति
8. भारतीय संगीत का इतिहास — डॉ0 जयदेव सिंह
9. भारतीय संगीत का सौन्दर्य विधान — मधुर लता भटनागर
10. मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में संगीत — डॉ0 राकेश बाला सक्सेना
11. संगीत बोध — डॉ0 शरचन्द्र श्रीधर परांजपे
12. संगीत राज — प्रेमलता शर्मा
13. संगीत के मूलतत्व — जयसुखलाल टी0शाह
14. कला में संगीत साहित्य और उदात्त के तत्व — हरद्वारी लाल शर्मा
15. वृहद्देशीमतंग प्रशीत — डॉ0 राजेश्वर सक्सेना
16. लोक साहित्य — डॉ0 बापू राव देसाई
17. भारतीय संगीत के मूलाधार — सुधा श्रीवास्तव
18. संगीत दर्शन — विजय लक्ष्मी जैन
19. कला और कलम — आर0ए0 अग्रवाल
20. मानव समाज का उत्कर्ष — आर0के0 माथुर
21. भारतीय जन का इतिहास — आर0सी0 मजूमदार

22. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ।	आर0सी0 शुक्ला
23. भारतीय चित्रकला	असित कुमार हाल्दार
24. भारतीय संस्कृति	असित कुमार हाल्दार
25. जनजातियों में लोकतन्त्र	अर्जुनदास केसरी
26. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा	बाबू गुलाब राय
27. भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास	बी0एल0 लूनिया
28. वैदिक युग और आदिमानव	बैद्यनाथ आचार्य शास्त्री
29. भारतीय धर्म एवं संस्कृति	बुद्ध प्रकाश
30. वनवासी भील और उनकी संस्कृति	श्री चन्द्र जैन
31. प्रागैतिहासिक मानव और उनकी संस्कृतियाँ	श्रीराम गोयल
32. मालवा की लोक चित्रकला	श्रीमती कुसुम
33. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद	हजारी प्रसाद द्विवेदी
34. कला समीक्षा	गिरिराज किशोर अग्रवाल
35. भारतीय संस्कृति	विनोद चन्द्र पाण्डेय
36. लोक गीतों की संस्कृति	विद्या चौहान
37. भारतीय कला के पद चिन्ह	जगदीश गुप्त
38. भारतीय प्रतीक विद्या।	जनार्दन मिश्रा
39. भ्रमर विपथगा	काशी उपाध्याय
40. मानवशास्त्र की रूपरेखा	कृपाशंकर माथुर
41. भोजपुरी लोकगीत, भाग-1	कृष्णदेव उपाध्याय
42. हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास	कृष्णदेव उपाध्याय
43. लोक साहित्य के प्रतिमान	कुन्दनलाल उप्रेती
44. कला का विवेचन	मोहनलाल महतो वियोगी

45. लोक कला प्रयोग और प्रस्तुति — महेन्द्र भानावत
46. लोक कला मूल्य सन्दर्भ — महेन्द्र भानावत
47. हमारे प्राचीन लोकोत्सव — मन्मथ राय
48. मेंहदी के रंग — मुकेश गुप्त
49. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति — राजकिशोर सिंह एवं ऊषा यादव
50. जनजातिय जीवन और संस्कृति — राजीव लोचन शर्मा
51. प्राचीन भारतीय साहित्य की संस्कृति भूमिका — रामजी उपाध्याय
52. प्राचीन भारत — राधा कुमुद मुकर्जी
53. खड़ी बोली का लोक साहित्य — सत्या गुप्ता
54. लोक साहित्य विज्ञान — सत्येन्द्र
55. भारतीय कला व संस्कृति — श्याम प्रकाश
56. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास — श्याम प्रकाश
57. मानव और संस्कृति — श्यामाचरण दूबे
58. Aspeets of indian music — Dr. Sumati Mutatkar
59. A historical study & indian music — Swami Prajna nanda
60. Focus on indian music — A Kumar
61. Indian musical tradition — V.H. Despande
62. Indian Music — B.A. Pingle
63. Indian music through the ages — S.Bandyopadhaya
64. Music its form, function and value — Swami prajananand

सहायक पत्र एवं पत्रिकायें

1• साप्ताहिकी हिन्दुस्तान।

2• अमृत प्रभात।

3• ब्रज भारती, भाद्रपद सम्वत् 2021।

4• दैनिक जागरण।

5• एकीकृत जनजाति विकास परियोजना, चन्दन चौकी, खीरी, वर्ष 1985-86।

6• गजेटियर।

7• गृह शोभा।

8• कादम्बिनी-मासिक दिल्ली।

9• कला त्रैमासिक-राज्य ललित कला एकादमी।

10• मनोरमा।

11• नवनीत-मासिक दिल्ली।

12• थारू विकास परियोजना,विशुपुर विश्राम, तराई अनुसूचित जनजाति विकास निगम।

13• थारू जनजाति सर्वेक्षण रिपोर्ट, जनपद गोरखपुर वर्ष 1982-83।

14• धर्मयुग-बम्बई।

15• सरिता मासिक।

16• संवाद-ललित कला अकादमी, नई दिल्ली।

17• सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग उत्तर प्रदेश का प्रकाशन- आदिवासी विशेषांक।

18• स्मारिका-ललित कला अकादमी, लखनऊ 1972।